# कल सुनना मुझे

धूमिल



युगबोध प्रकाशन
वाराणसी - २

# कल सुनना मुझे

धूमिल

युगबोध प्रकाशन
एस० २/३६४, सिकरौल
पो० वाराणसी कैण्ट
वाराणसी–२

## अनुक्रम

'जब दूध के पौधे झर रहे हों सफेद फूल
नि:शब्द पीते हुए बच्चे की जुबान पर'
तब उन्हें सुनना अधिक सार्थक होगा।

कन्हैया ने पहले इस संग्रह का नाम रखा था 'दस्तक', पर मैंने ही सुझाव दिया कि दस्तक देने वाला रहता, तो यह नाम ठीक था, अब तो इसकी पुकार की गूंज रह गई है, नाम 'कल सुनना मुझे' रखो, यही ठीक रहेगा। कन्हैया ने मान लिया, मैं कृतज्ञ हूं। 'धूमिल' के इस कविता-संकलन की कवितायें न जाने किन कोनों-अंतरों से उद्धार करने का कार्य कन्हैया और राजशेखर ने किया है। राजशेखर ने बड़े आवेश में प्रारम्भिक वक्तव्य भी तैयार किया। उसे कुछ मैंने नरम कराया, मुझे लगा था कि धूमिल को जीते जी किसी की सहानुभूति या किसी का बढ़ावा बर्दाश्त नहीं था, मरने पर ही क्यों इस तरह की कोशिश की जाय कि मरने के कारण उनकी ओर उन्मुख हों, उनकी कृति अपने आप आज नहीं कल लोगों की जबान पर होगी और मैं धूमिल के संघर्षमय जीवन का लेखा न देकर ( क्योंकि यह काम राजशेखर ने कर दिया है ) उनकी कविता के बारे में दो शब्द लिखूं, दोनों ने यह आग्रह किया।

धूमिल की कविता के बारे में कहने के पहले इस कविता की भाषा के बारे में कुछ कहना जरूरी हो जाता है, सिर्फ इसलिये नहीं कि भाषा से मेरा पेशाई सरोकार कुछ ज्यादा है, बल्कि इसलिये अधिक कि धूमिल ने भाषा से सरोकार अपने समकालीन बहुत से रचनाकारों से कुछ ज्यादा रखा। यह भाषा से सरोकार चौंकाने के लिए नहीं है, न आंचलिक या झदेसी छटा देने के लिये है, यह सरोकार है—जीवन में सम्पृक्त व्यक्ति के खुरदुरे पर कारगर अनुभव को उसके अनुरूप आक्रामक अभिव्यक्ति देने के लिए है। कहीं-कहीं मुझे यह आक्रामकता कुछ अतिरिक्त लगती है, शायद यह उतावले धूमिल को लाचारी रही हो कि वे अपने को रोक नहीं सकते थे, यहाँ तक कि जब वे अपनी दैहिक यन्त्रणा से हारने लगे, तब भी यह आक्रामक-भाव नहीं जाता;

'मेरा जीवन लार टपकाती हुई नेकर का नाड़ा है
मुझे मेरे दर्द ने पिछाड़ा है।'

पर धूमिल क़ी ज़बान का तीखापन एक जगह झुक जाता है। धूमिल मूलतः घर-बारी इंसान हैं, घर से, माँ से, घरनी से, बच्चों से उनका लगाव गहरा है, इसलिये सारी दुनियाँ पर उन्हें क्रोध आता है, खीझ होती है, खुद अपने पर खीझ होती है :—

'मेरे गाँव में
वही आलस्य, वही ऊब
वही कलह, वही तटस्थता
हर जगह और हर रोज
और मैं कुछ नहीं कर सकता
मैं कुछ नहीं कर सकता'

पर उन्हें एक आशा बराबर सहलाती रहती है, अनागत की एक 'खिलखिलाहट' उनके 'बगल में उभरती' रहती है।

'चालाक गिलहरियों का पीछा करती हुई दुधमुही 'तिनो'
(मेरी बच्ची) किलक उठी है
मैं चौंक पड़ता हूँ—
नहीं—इन दिनों बात-बात पर
इस तरह उदास होना
ठीक नहीं है
मैं देखता हूँ—मुझे बरजती हुई
उसके चेहरे पर खुली हँसी है—
जिसमें एक भी दाँत
शरीक नहीं है।'

जिन लोगों ने धूमिल की फ़ोश भाषा का बहुत जिक्र किया, उन्हें ऊपर की पंक्तियाँ ध्यान से पढ़नी चाहियें। दन्तहीन शिशु की किलकारी (अत्यन्त अहिंस्र सहज उत्फुल्लता) ही धूमिल का वास्तविक चित्र है। यौन और ऊपर से वीभत्स लगने वाले बिम्ब, प्रतीक और सादृश्य विधान तो उनकी भाषा को चौखटा देने वाले हासिया मात्र हैं। धूमिल मन से इतने स्वस्थ थे कि समूची सामाजिक व्यवस्था के अस्वास्थ्य को सह नहीं पाते थे और मन तो अन्त तक बाहरी अस्वास्थ्य के दबाव को अस्वीकार करता रहा, पर शरीर इस दबाव को नहीं झेल सका और उसी कारण धूमिल के कवि को यह लगता है—

'पता नहीं कितना अंधकार था मुझमें
मैं सारी उम्र चमकने की कोशिश में
बीत गया।'

सारी उम्र चमकने की कोशिश में धूमिल का एक भी शब्द ( यहाँ तक कि पीतल का शब्द भी ) मैला या पीला नहीं रहने पाया, वह भी माँज कर चमका दिया गया। गरीबी के चित्र गैर ग़रीब लोगों ने खींचे हैं, गरीबी में झिलने वालों ने खींचे हैं, पर गरीबी की भाषिक सम्पन्नता में जीने वाले शायद अकेले धूमिल हैं, जिनकी 'करछुल बटलोही से बतियाती है' ( क्योंकि बात-बात है, वहाँ और कुछ है नहीं ) 'चिमटा तवे से मचलता है' जिनके घर 'चूल्हा ( मन का ताप ) कुछ नहीं बोलता, चुपचाप जलता है और जलता रहता है,' वहाँ पहले 'थाली खाती है', तब आदमी 'रोटी खाता है'। इस अभाव की दर्दनाक परिणति यह होती है कि आदमी को घर से बाहर निकल जाने पर लालबत्ती वाले चौराहे पर जब वह रुकता है, तो 'हौले से एक दर्द हिरदै को हूल' जाता है—

'ऐसी क्या हड़बड़ी कि जल्दी में पत्नी को  
चूमना—  
देखो, फिर भूल गया।'

गरीबी इसलिये और अधिक दुस्सह हो जाती है कि वह मानवीय संवेदना को भी छीनने दौड़ती है। मृच्छकटिक लिखने वाले ने भी गरीबी के इस पहलू को बहुत महत्त्व दिया। धन जाने का सोच नहीं, धन का अभाव प्रियजनों का मोह भी खा जाता है, यही जलन ज्यादा है। इस दर्द का एहसास धूमिल को है, इसलिये वे गरीब नहीं हैं, वे सुदामा नाम से हैं, पर वे महल से अपनी कुटिया का हेर-फेर करने को तैयार नहीं, क्योंकि महल हो, तो सबके लिये, और महल हो भी तो क्या आज के गाँव की मानवीय यन्त्रणाओं का समाधान कर सकेगा, वह तो उस यन्त्रणा का ऐसा साझीदार ही कर सकता है जो सोचता है—

'यद्यपि  
उनकी जरूरतों के लिये मैं अपना पूरा कन्धा  
दे देना चाहता हूँ  
मगर टूटते हुए परिवार में  
धनुष-टंकार झेलते हुए जवान बछड़े सा  
कराहता हूँ।  
मेरे गाँव में

वही आलस्य, वही ऊब
वही कलह, वही तटस्थता
हर जगह और हर रोज... ...
और मैं कुछ नहीं कर सकता।'

धूमिल की भाषा लड़ाई की भाषा है जरूर, पर इस लड़ाई में अकेलेपन की एक विथा है, क्योंकि धूमिल नकली लड़ाइयों के खिलाफ हैं, वे हर नकलीपन के खिलाफ हैं—

'चुटकुलों सी घूमती लड़कियों के स्तन
नकली हैं, नकली हैं युवकों के दाँत।'

कोमलता और वीरता दोनों जब नकली हों, तो कवि को कल का भरोसा होता है, जब—

'खटकर (कमाकर) खाने की खुशी
परिवार और भाईचारे में
बदल रही हो।'

इसलिये जिन्दगी भर मौत से जूझने का सम्बल धूमिल के साथ रहा। धूमिल की कविता भी बुनियादी तौर पर केवल व्यवस्था से नहीं जूझती, व्यवस्था की अमानवीय परिस्थिति से जूझती रही। उसकी आक्रामकता में जहाँ एक ओर लाचारी है, वहीं दूसरी ओर भविष्य के दिगन्त तक गूँज उपजाने वाली टंकार भी है। वह एक दस्तक देती है, यह सूचित करने के लिए कि —

'हम न देखें
लेकिन अंधकार वर्ष को चीरकर
प्रकाश की लचीली बाहें
हमें छूती हैं।'

मुझे धूमिल की कविता 'प्रकाश की लचीली बाहों' के रूप में सबसे अधिक छूती है और भीतर यह होता है कि धूमिल की भाषा में कुछ शहरीपन मिल भी जाय, शहरी यारों की सोहबत की बदौलत, पर उनकी भावभूमि ठेठ भदेसी है, निखालिस हिन्दुस्तानी है, गाँव का सही आदमी जिन्दगी में इतना गर्क है, इसीलिए वह जिन्दगी का मजाक भी उड़ा सकता है। वह जिन्दगी,

से तटस्थ होकर, जिन्दगी के बारे में सोच सकता है, वह अपनी जिन्दगी तो जीता ही है, दूसरों की जिन्दगी जी सकता है। घूमिल भी जिन्दगी की गहरी ममता के लिये ही इतने निर्मम हैं कि कभी-कभी लोग उन्हें गलत समझते हैं, उन्हें नारेबाज समझते हैं, उन्हें एक झपताल बजाने वाला नकशेबाज कवि समझते हैं, पर जो भी उनकी निर्ममता, उनकी भाषा के तीखेपन, उनके आवेश के अभिप्राय तक जाने की कोशिश करेगा, उसे दिखेगा कि घूमिल की कविता में बिल्कुल अबोध देहाती माँ का छलकता हुआ वात्सल्य है, और सारी चीजें उस वात्सल्य के लिये कवच मात्र हैं। घूमिल के अकरुण आलोचक ऐसी पंक्तियाँ अनदेखी कर जाते हैं जो मानवीय सम्बन्धों के टूटने का दर्द बड़ी सादगी से अभिव्यक्त करती हैं—

'रात जब युद्ध एक गीत-पंक्ति की तरह
प्रिय होगा हम वायलिन को
रोते हुए सुनेंगे
अपने टूटे सम्बन्धों पर सोचेंगे।
दुखी होंगे।'

जब कोई घूमिल की भाषा की अशिष्टता की बात मुझसे करता है, उसके अदम्य अहंकारी रूप की शिकायत करता है, तो मुझे अपने छोटे भाई की याद आती है, जो बहुत तेज, बहुत शरारती, बहुत ऊधमी था, मचलता था तो आसमान सिर पर उठा देता था, पर मृत्यु-शय्या पर उसने अपने बाबू ( मुझे बाबू कहता था ) की याद की, अकेला मैं था, जिससे वह दबता था और उसको सबसे अधिक मुझसे आत्मीयता थी। घूमिल की कविता की चर्चा करते समय मुझे उसका ऊधमी रूप भूल जाता है, केवल उस कविता की आत्मीयता आँखों को नम करने लगती है। तब कुछ नहीं सूझता, बस यही होता है, यह आत्मीयता पूस की धूप की तरह इतनी संक्षिप्त क्यों थी, क्यों जलाने वाले दिन ही लम्बे होते हैं, क्यों?

१-१-७७

विद्यानिवास मिश्र

# मरणोत्तर धूमिल : एक कथा-यात्रा

दुखी मत हो। यह मेरी नियति है।
मैं हिन्दुस्तान हूँ। जब भी मैंने
उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने मुझे इसी तरह अपमानित किया है
इसी तरह तोड़ा है।

[ पटकथा ]

मरणोत्तर धूमिल की यह 'ट्रेजडी' समकालीन कविता के 'मिरर' में आज के नौजवान हिन्दुस्तान का एक जलता हुआ सवाल है। अपने भीतर की सारी कड़वाहट और बेचैनी से जूझता हुआ, मैं भारी कदमों से 'छमहुवाँ घाट' की ओर बढ़ रहा हूँ। मेरे साथ कवि रामेश्वर त्रिपाठी है। बीमारी से पहले, अपनी आखिरी मुलाकात में—धूमिल ने मुझसे कहा था कि—"किसी दिन मेरे घर आओ, तो जमकर बातें करेंगे।" भोजूबीर गोपाल की चाय की दूकान में हम आमने-सामने बैठे थे। मैं उसकी 'पटकथा' पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा था। मेरी पकड़ पर वह बहुत खुश था और बातों की रौ में बोलता चला जा रहा था—"लोग मेरी कविताओं को सही ढंग से नहीं समझ पा रहे हैं। सचमुच जैसा तुम कह रहे हो—पटकथा को पढ़कर आँखें गीली हो जाती हैं और भीतर एक भयानक-ठंडी क्रूरता का बोध होता है। जिसे लोग आज नहीं महसूस कर रहे हैं, उसे कल समझेंगे। तुम मेरी कविताओं पर अपना विचार दो।" किन्तु अफ़सोस, मैं उसकी इस छोटी-सी माँग को उसके जीवन-काल में पूरा नहीं कर सका। हम में से कौन जानता था—छमहुवाँ घाट के किनारे खड़े नौजवान बरगद के मजबूत तने-सा धूमिल का चौड़ा कंधा, अकस्मात् हमारी बगल से गायब हो जायेगा और सीने में उसकी मौत का तल्ख एहसास लिए हुए हमें खेवली की यात्रा करनी होगी।

खामोशी और अपने अंधकार के बीच से गुजरते हुए, हम छमहुवाँ घाट के किनारे खड़े हैं। उस पार—शाखों से झूलती जड़ों से जमीन पकड़ने की

छटपटाहट लिए, बरगद का दरख्त खामोश खड़ा है। बरगद धूमिल के जुड़वाँ भाई-सा कद्दावर और मजबूत है। डोंगी पर वैठे मल्लाह को हाथ देकर, हमने इस पार बुला लिया है।

"दादा, सुदामा पाण्डेय का घर यहाँ से कितनी दूर है ?"—हम डोंगी पर वैठे मल्लाह से सवाल कर रहे हैं। सुदामा पाण्डेय के नाम पर मल्लाह खामोश···वरुणा की धारा में खो गया है। आबनूस की काली मूरत-सा गठीला अधेड़ मल्लाह, अपना आँसू छिपा रहा है। वह जानता है—मर्द रोते नहीं। जानबूझ कर हम उसे कुरेद रहे हैं, ताकि खामोशी तोड़ कर, वह कुछ बोले। कई बार पूछने पर, वह बोल रहा है—"भइया भगवान हमहन पर गजव गिरा देहलन। अव हम गरीबन क खेवनहार इहवाँ कोई नाहीं रह गयल।" अनजान वनकर हम धूमिल के वारे में अधिक से अधिक जानकारी हासिल करने के लिहाज से, उससे तरह-तरह के सवाल कर रहें हैं और ढली उम्र का कद्दावर पंचम बोलता चला जा रहा है—"गरीवन क देवता मर गयल भइया, अब गाँव में हमहन के खातिन लड़ेवाला कोई नाहीं हउवै।"

× × × ×

कविता से बाहर अपनी सरजमीन पर खड़े धूमिल के व्यक्तित्व की यह एक खास पहचान है। धूमिल खुद में एक सवाल है। कविता के भीतर और कविता से बाहर अपने इस सवाल से वह बराबर जूझता रहा। हमदर्द चेहरों की तलाश के वावजूद वह जानता था—

हमदर्दी
चेहरे से आँसू और चमड़ा
बटोरती है।

[ हत्यारी संभावनाओं के नीचे ]

इस लिये बहुत सारे हमदर्द चेहरों के बीच भी वह अपने संघर्षों में एकदम अकेला था, क्योंकि उसे एहसास था—

शब्दों के पीछे
कितने चेहरे नंगे हो चुके हैं
और हत्या अब लोगों की रुचि नहीं
आदत बन चुकी है···

[ कविता ]

लोगों की इस नृशंस आदत के खिलाफ उसके व्यक्तिका—तना हुआ वजनदार घूँसा उसके प्रतिवाद का एक तगड़ा सबूत रहा है। सामाजिक क्रूरता के घेराव में, वह नये मानव-मूल्यों के लिये बराबर लड़ता रहा। कफ्न से लेकर साहित्यिक महंतों के अगम-सिद्धालयों के कूटस्थ-कपाटों तक—अस्तित्व का यह संघर्ष, व्यक्ति के रूप में मात्र धूमिल का ही नहीं; बीसवीं शताव्दी की सृजनशील, शोषित और उत्पीड़ित मेहनतकश जनता का अपना इतिहास है। कलम के एक सिपाही की हैसियत से, उसमें वर्तमान की वस्तुगत परिस्थितियों की समझ है। एक जिम्मेदार रचनाकार की तरह, वह समाज की पशु-प्रवृत्तियों पर सांघातिक चोट करता है और कविता की भाषा में, अपनी सहज आत्मीयता से इन छद्मवेशी पशु-आचरणों के पीछे छिपे सामाजिक तथ्यों का उद्घाटन करता है किन्तु अपनी सामाजिक विवशताओं और संस्कारगत-मनोगत वादी अवधारणाओं के कारण, वह अन्तर्विरोधों के वर्गीय अन्तर्वस्तु को अमूर्त छोड़ देता है। उसका यह भाववादी-अवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व उसकी अधिकांश कविताओं में स्पष्ट है —

भूख ने उन्हें जानवर कर दिया है
संशय ने उन्हें आग्रहों से भर दिया है
फिर भी वह अपने हैं
अपने हैं
अपने हैं
जीवित भविष्य के सुन्दरतम सपने हैं

[ पटकथा ]

अपनी मार्क्सवादी समझ के बावजूद, यूटोपियन-मूल्यों के प्रति इतनी गहरी आस्था रखने वाला व्यक्ति धूमिल, अपने आप में समाज द्वारा कितना उत्पीड़ित रहा, यह अपने संदर्भों में एक दर्दनाक कहानी है।

× × × ×

जान बूझ कर गाँव में भटकते हुये, हम धूमिल के पम्पिग सेट ( पाही ) पर आ पहुँचे हैं। हम जनता के बीच धूमिल के सही व्यक्तित्व की तलाश कर रहे हैं। पूरे गाँव में, कवि के रूप में धूमिल को कोई नहीं जानता था। उसकी मौत के बाद, रेडियो ब्राडकास्टिंग से लोगों ने यह महसूस किया कि उनके

बीच से एक बड़ा आदमी उठ गया है। चारपाई पर एक कमसिन उम्र का किशोर बैठा है। पूछने पर बताता है—"मैं धूमिल जी का पुत्र रत्नशंकर हूँ"। कच्ची उम्र में पिता की मृत्यु के धक्के ने, कितना संजीदा बना दिया है इस किशोर चेहरे को। रत्नशंकर के साथ हम घर के दरवाजे पर आ गये हैं। आस-पास के वातावरण में एक शोकपूर्ण सन्नाटा है···। परिवार के सदस्यों के बीच हम घिर गये हैं। माँ और चाची ने हमें बाँहों में छान लिया है। करुण विलाप के क्रन्दन में हम सब पिघल कर जम गये हैं—"एक्कै सरिरिया सागर मथत रहले बघवाऽऽ"—-माँ का दूध झूठ नहीं बोलता···। धूमिल चाची और माँ की आँखों में बाघ था। वस्तुत: सफेदपोश अपराधियों और अत्याचारियों के लिये वह एक क्रुद्ध बाघ था। खेवली से आई. टी. आई. की लम्बी दूरी, पट्टीदारों के अट्ठारह बीस जाली मुकदमों का संत्रास, लंका, अस्सी, गोदौलिया से लेकर नवाबगंज तक की बैठकों में—बारह-एक बजे रात तक मानसिक तनाव झेलते हुए, साहित्यिक हथकंडेबाजों से जूझना और फिर रातभर जगकर कविता लिखना। अकेले शरीर सागर-मंथन नहीं तो और क्या है? माँ के आँसू झूठ नहीं बोलते···।

पाला लगे मटर की खेत-सा सारे परिवार का चेहरा मुर्झा गया है। रामेश्वर रो रहा है। ऐसी बहुत सारी मौतों से गुजर कर, मेरी आँखें सूख गई हैं।

गहराइयों में उतर कर, दर्द खामोश हो जाता है। पूरा परिवार हमारे सामने है, सिर्फ कन्हैया (धूमिल के अनुज) घर पर नहीं हैं। खारे समन्दर की गहराइयों से झाँकती चाची की आखों में···शिशु धूमिल का एलबम है। चाची ने अपने हाथों धूमिल के इस्पाती ढाँचे को गढ़ा है। लोहे को राख होते, कितनों ने देखा है? परिवार के सिर से धूमिल की मजबूत बाँहों का साया उठ गया है। मौत की चट्टान से टकराकर, शीशे की तरह—

एक समूचा और सही वाक्य<br>
टूटकर<br>
बिखर गया है

[ पटकथा ]

वस्तुतः —

सोच में डूबे हुये चेहरों और
वहाँ दरकी हुयी जमीन में
कोई फर्क नहीं है

[ खेत्रलो ]

जीवन-मूल्यों से पृथक्, साहित्य की बात करना, अपने आप में एक बहुत बड़ा 'फ्राड' है। करोड़ों मेहनतकश लोगों की तरह, साहित्यकारभी सामाजिक निर्माण में लगा हुआ एक साधारण आदमी है। उसे भी औरों की तरह रोटी के लिये, अपना खून-पसीना एक करना पड़ता है। शोषण और सामाजिक षडयन्त्रों के विरुद्ध लड़ना पड़ता है। वह बादलों की दुनियाँ में ख्वाब बुनने वाला फरिश्ता नहीं होता। वह यथार्थ की ठोस धरातल पर खड़ा, अपने वक्त का जागरूक प्रहरी होता है। अपने समूचे परिवेश में, धूमिल इस ठोस धरातल पर—मजबूती से खड़ा है। जहाँ तक उसके वैचारिक अंतर्विरोधों का प्रश्न है—आज के दौर में, हर किसी के भीतर वह किसी न किसी रूप में मौजूद है।

शाम गहरा गई है। थके सिपाही से—कलपते हुये परिवार को छोड़कर, हम वापस लौट रहे हैं। कंधों पर नये दायित्वों और संकल्पों का बोझ है। लोकनाथ हमें गाँव की सरहद तक छोड़कर, अमराई में बैठा, माथा पकड़कर रो रहा है। लखनऊ मेडिकल कालेज के आपरेशन थियेटर से बेड नं० २ तक के मर्मान्तिक दृश्य उसकी आँखों के सामने हैं···

आखिरी और आखिरी बार। स्टैंड से
उल्टी बोतल में
रबर की एक लम्बी नली से वह
सरक रहा था। धीरे-धीरे
मृत्यु के खिलाफ। छापामार
दस्ते के अगुआ की तरह
देह के जंगल में

जहाँ मौत ने अपना खेमा

गाड़ रखा था।

[ खून के बारे में कविता ]

१२ मार्च, १९७५

× × × ×

घर मैंने छोड़ दिया

कोई मूल्यवान चीज मैंने नहीं छोड़ी

जो अब वाद में

आयेंगे मेरी याद में,

मुझसे अच्छे बनेंगे।

चुकने के बाद—

जितना बचेंगे

कुछ नया रचेंगे।

[ मेरे बाद ]

अनजाने धूमिल की कविताओं की रक्षा का सवाल हमारे सामने आ गया है। समकालीन रचनाधर्मिता के सन्दर्भ में, धूमिल का सारा कृतित्व एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। हिन्दी कविता के रचनात्मक विकास की प्रक्रिया में—यदि यह शृंखला टूट कर बिखर गई तो यह एक अपूरणीय राष्ट्रीय-क्षति होगी। निराला और अज्ञेय के वाद की समूची पीढ़ी के शृंखलाबद्ध रचनात्मक संघर्षों और उपलब्धियों को क्रमबद्ध रूप से समझने के लिये, धूमिल की संपूर्ण कृतियों का मूल्यांकन नितान्त आवश्यक है। पाँच-सात कविताओं को छोड़कर पाण्डुलिपि की शक्ल में उपलब्ध, धूमिल की सारी कवितायें धृतराष्ट्र-लिपि की पर्याय हैं। भुस में सुई खोजने जैसा काम है। संग्रह के रूप में तैयार की गई धूमिल की कई पाण्डुलिपियाँ गायब हैं। धूमिल के कुछ मित्रों के पास बहुत सी कवितायें व डायरी सुरक्षित पड़ी हैं। हमारा आग्रह है कि हमारे मित्र, धूमिल के क्लासिक को नष्ट होने से बचायें। क्यों कि धूमिल अब हमारे लिये यादगारों की एक मीनार है। इस मीनार को क्षति-ग्रस्त करना, अपने व्यक्ति को क्षति-ग्रस्त करना है।

और तुम कहते हो कवि एक सुन्दर बगीचा है
जिससे अपने लिये तुम एक शब्द-फूल
तोड़ सकते हो। तोड़ो,
मगर मत भूलो कि इस बगीचे को
एक आदमी ने अपने खून से सींचा है

[ मैं हूँ ]

१५ मार्च, १९७५

× × × ×

जाड़े की सर्द सुबह है। खेत, बाग और टीले सिर से पाँव तक कुहरे में डूबे हुए हैं। माँ की ममता-सी वरुणा अपने दर्द की गहराइयों में खामोश है। डोंगी से नदी पार कर—पगडंडियों की राह···मैं धूमिल के दरवाजे पर खड़ा हूँ। जालिमों की तनी हुई बन्दूकों को छीन कर – आक्रामक दिशाओं में मोड़ देने वाला, खेवली के बीहड़ का बाघ अब नहीं है। सुबह-सुबह मुझे अपने बीच पाकर, सारा परिवार उत्साह से भर गया है। समूह के दर्द से जुड़कर अपने भीतर का आकाश कितना विस्तृत हो जाता है।

पारिवारिक समस्याओं के चक्रव्यूह से बाहर आकर, मैं धूमिल की धृतराष्ट्र-लिपि में डूब गया हूँ। कन्हैया किसी काम से बाहर जा चुके हैं, बाकी सारे भाई बैलों के साथ जमीन तोड़ने खेत में···। धूमिल इसी जमीन की उपज है।

लहलहाती हुई फसलें···
बहती हुई नदी
उड़ती हुई चिड़ियाँ···
यह सब, सिर्फ, तुम्हें गूँगा करने की चाल है
क्या तुमने कभी सोचा कि तुम्हारा—
यह जो बुरा हाल है
इसकी वजह क्या है ?

[ प्रौढ़ शिक्षा ]

कविताओं की बिखरी हुई पंक्तियों पर, लाल स्याही से निशान बनाते-बनाते मैं थक कर चूर हो गया हूँ। उफ्...कितना अशान्त था अपने अंतरंग में...तूफान का यह काला सागर...?—अपने को समेट कर, खड़ा तक नहीं हो सका।

अपने बचाव के लिए
खुद के खिलाफ हो जाने के सिवा
दूसरा रास्ता क्या है ?
मैं आपसे ही पूछता हूँ

[ कवि, १९७० ]

प्रश्नों के दायरे में..., अंधकार के आर-पार अथाह रुदन-सा व्याप्त धूमिल, कागज के टुकड़ों पर-आँसुओं के धब्बों-सा फैल गया है। बिखरे आँसुओं से किसी की खोई हुई तस्वीर को बनाना—एक त्रासदी है। कितनी मानसिक अराजकता अपने भीतर ढो रहा था वह !—कितना अस्त-व्यत था उसका एकाकी व्यक्तित्व ! मैं हैरान और दुखी हूँ। अपनी भाषा की सलीब पर—संवेदनाकी खुदकुशी है धूमिल ! उसका यह वक्तव्य कितना यथार्थ है—

कवि,
व्यवहारिकता की
बँटी हुई रस्सी से झूलती हुई
संवेदना की खुदकशी है।

[ मैं हूँ ]

यह सब उसके मानस-परोक्षों का एक्स-रे-प्लेट है। जब वह कहता है—

घृणा में डूबा हुआ सारा का सारा देश
पहले की तरह आज भी
मेरा कारागार है।

[ पटकथा ]

तो भय लगता है। इतना तनाव किसी अकेले व्यक्ति के लिये एक खतर-नाक जहर है। किन्तु आज की परिस्थितियों में जहर के अतिरिक्त हमारे लिये बचा ही क्या है ? अपने तनाव और अंधकार से बराबर जूझता रहा धूमिल

और अन्ततोगत्वा तनाव और अंधकार के दानव ने उसे धीरे-धीरे चूसकर, उसकी लाश को हमारी ओर झटके से उछाल दिया—और अब इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है कि सागर तट पर बिखरी…हुई उसकी रेत को पंक्ति-पंक्ति जोड़कर, हम उसे मीनार की शक्ल में बदल दें। कितना खौफनाक है……यह दृश्य……।

उसकी आँखें बन्द थीं।
उसका चेहरा खून और आँसुओं से तर था। 'मूर्खो!
यह क्या कर रहे हो'। मैं चिल्लाया। और तभी किसी
ने उसे मेरी ओर उछाल दिया। अरे! यह कैसे हुआ?
मैं हतप्रभ-सा खड़ा था
और मेरा हमशक्ल
मेरे पैरों के पास
मूर्छित-सा
पड़ा था……

[ पटकथा ]

पाँच बज रहे हैं। कन्हैया अभी नहीं लौटे। धृतराष्ट्र-लिपि पर, एक हद तक काम करके, मैं 'पाही' पर आ गया हूँ। अपने हिस्से की जमीन तोड़कर, लोकनाथ, शोभनाथ और अर्जुन भाई अलाव के पास बैठे—बैलों-से हाँफ रहे हैं। मैं उनके चेहरों के भीतर धूमिल को तलाश रहा हूँ। थकान तोड़ने के लिये, सिलपर बूटी कट रही है, साथ में गन्ने का पका हुआ रस है। कन्हैया बाजार से वापस लौट आये हैं। अलाव के इर्द-गिर्द…नई उमर की ठाठ है। चकबन्दी में बड़े किसान तिकड़म भिड़ा कर, छोटे किसानों की 'गोइड़े' की जमीन हड़प रहे हैं। धूमिल ठीक कहता था—"गाँवों में छोटे किसानों की हालत जुते हुए खेत जैसी है।"—सब के सब परेशान हैं। "सुदामा भइया होतन त हमहनो देखित"—एक तमतमाया नौजवान चेहरा तैश में अपने भीतर का कड़वा धुंआ उगल रहा है। यादगारों के सारे बन्द दरवाजे एक साथ खुल गये हैं…कन्हैया पाण्डेय वर्तमान की पृष्ठभूमि पर खड़ा, अतीत के खण्डहरों से बोल रहा है '—वरुणा के खार में साइकिल फेंककर, सावन-भादों की उफनती नदी को चीरते हुए ग्यारह-बारह बजे रात वे घर चले आते थे।

मर्द थे वे ! उनके साहस की ढेरों कहानियाँ सीने में दफ्न हैं। क्या बतायें आपको···कन्हैया का चेहरा पिघले शीशे-सा थरथरा कर खामोश हो गया है। रत्नशंकर सिर झुकाये कौड़ा ताप रहा है। पता नहीं किस पर क्या बीत रही है किन्तु, जख्मों के साये में कितने अपने हैं ये लोग। धूमिल की आँखों में यहाँ—

सब कुछ सदाचार को तरह सपाट
और ईमानदारी की तरह असफल है।

[ खेवली ]

× × × ×

मुझे लिखो, मैं कटी हुई उँगलियाँ हूँ
जिसे भूख ने खा लिया है।

[ मैं हूँ ]

धूमिल के पूर्वज छेदा पाण्डेय, वाराणसी नगर से बारह किलोमीटर दूर—पश्चिम पंचकोसी के तीसरे पड़ाव, रामेश्वर महादेव से तीन किलोमीटर (पूर्व) परगना कसवार राजा, तहसील—जिला वाराणसी के अन्तर्गत—वरुणा की उपत्यका में···खेवली की दरखेज जमीन पर कहीं दूर से आकर तामीर हो गये थे। आस-पास केवट, राजभर, ग्वालों और विभिन्न जाति के मेहनतकश लोगों का परिवार है। पुरखों की कीरत, पर धूमिल के 'पुरवे' को लोग पाण्डेपुर के नाम से पुकारते हैं। सोना उगलने वाली इस धरती पर, मेहनतकश बाँहों का जोर है। घनो आबादी वाला यह भदेस, शिक्षा के मामले में कितना पिछड़ा हुआ है, इसका अंदाज आप इस बात से लगा सकते हैं कि इस गाँव से सन् १९५३ में, उत्तर प्रदेश की हाई स्कूल-परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले पहले व्यक्ति—जनाब सुदामा पाण्डेय थे, जिन्हें हम आप आज धूमिल के नाम से जानते हैं।

बचपन में गाँव की जुबान पर 'सौंकिया पहलवान' के नाम से मशहूर 'सुदामा जी' पितामह विन्देश्वरी पाण्डेय की आँखों के तारे थे जो पितामह के साथ बचपन में, अखाड़े की तेल-माटी खाकर, अपने लहीम-सहीम ढाँचे में ऐसे उभरे कि खेवली के दरिन्दों से लेकर, हिन्दी साहित्य के अच्छे से अच्छे अखाड़िये चकरघिन्नी खा गये और इस तरह देखते-देखते वह—

दीवारों की चौकसी के बावजूद

एक नारा बन गया था। भाषा की रात में

[ खून के बारे में कविता ]

साहस के साँचे में ढला हुआ धूमिल, आदमकद इस्पात था। बचपन का जिद्दी धूमिल, जात-पाँत, भूत-प्रेत और धार्मिक अन्धविश्वासों में अपनी अनास्था के कारण, पिता की दृष्टि में बराबर 'नास्तिक' रहा।

गाँव की आँखों में धूमिल विद्रोह-मूर्ति पिता श्री शिवनायक पाण्डेय का प्रतिरूप था, किन्तु अपना आक्रोश अभिशाप की जगह वह मारपीट और शक्ति-प्रदर्शन में व्यक्त करता था, जो आगे चलकर, परिचितों के बीच उसके व्यक्तित्व की एक विशिष्ट पहचान बन गई थी।

अंकगणित में शत-प्रतिशत अंक पाने वाला धूमिल, ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ( मिडिल पास करने के बाद ) वरुणा के तट पर बैठकर, अपने सहपाठी मित्र बनारसी लाल श्रीवास्तव के साथ कविता की जुगलबन्दी करने लगा था। विरहा, कवित्त, सवैया और गीतों के घरौंदों को फलाँग कर, अकस्मात् सुदामा पाण्डेय से बाहर—धूमिल के रूप में वह ऐसा चमका कि भाषा के अच्छे-अच्छे कारीगरों की आँखों में मुहब्बत के आँसू आ गये। यह धूमिल के भीतर खेवली की तासीर है। वस्तुतः धूमिल की कविताओं में इस देश की मिट्टी की करुणा का छन्द है। इसलिये वह कहता है—

मैं इतना कृतघ्न नहीं हूँ कि उस जमीन को—धिक्कार दूं

जिस पर मेरा जन्म खड़ा है

[ देश-प्रेम : मेरे लिए ]

बारह वर्ष की अल्पायु में ही धूमिल का विवाह लालपुर वाराणसी निवासी पं० नान्हक दीक्षित की कन्या मूरत देवी के साथ कर दिया गया। बचपन के मेधावी और अध्ययनशील विद्यार्थी धूमिल को स्कूली पढ़ाई के तौर-तरीकों से बुरी तरह चिढ़ थी। एक-एक कर पितामह, पिता और चाचा की मृत्यु से मर्माहत होकर—आर्थिक दबावों और अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण हरिश्चन्द्र इण्टर कालेज, वाराणसी में नाम लिखाने के उपरान्त भी, वह अपनी पढ़ाई को

आगे नहीं बढ़ा सका। शिक्षा की इस भूख को उसने स्वाध्याय के माध्यम से पूरा किया। शिवशंकर वाचनालय, खेवली उसकी इस पढ़ाई का प्रमुख अड्डा था। उसकी यह 'हॉबी' अन्त तक उसके साथ थी।

× × × ×

भूख कौन उपजाता है :
वह इरादा जो तरह देता है
या वह घृणा जो आँख पर पट्टी बाँधकर
हमें घास की सट्टी में छोड़ आती है ?

[ अकाल-दर्शन ]

दो-दो घण्टे 'आवरे गइयवा'—'आवरे भइसिया'—'आवरे कुकुरा' 'आवरे बिलरिया' कहने के बाद—दूध पीने वाले किशोर धूमिल के सामने, अकस्मात् परिवार के दो जून रोटी का सवाल आ गया था। आँख खोलने के बाद से वह देख रहा था—

बच्चे भूखे हैं :
माँ के चेहरे पत्थर
पिता जैसे काठ : अपनी ही आग में
जले है ज्यों सारा घर

[ आज मैं लड़ रहा हूँ ]

आस-पास के तमाम लोगों के विरोध और उपहास के बाद भी अकेलेदम साढ़े चार बीघे जंगल को काटकर, उसे उपजाऊ खेत की शक्ल में बदल देने वाले गौरी पाण्डेय के वंश का होनहार बिरवान धूमिल, स्नेहमयी विधवा माँ, मातृवत्सला चाची, चार छोटे भाइयों ( कन्हैया, अर्जुन, शोभनाथ, लोकनाथ ) और पत्नी को रोता-कलपता छोड़कर, रोटी की तलाश में कलकत्ता चला गया था।

कलकत्ता में परिचितों का सहयोग न पाकर, वह लोहा ढोने वाले मजदूरों के साथ लोहा ढोने का काम करने लगा। तभी शायद मृत्यु से पूर्व वह अपने अन्तिम अक्षरों में बोल सका—

"शब्द किस तरह कविता बनते हैं
इसे देखो
अक्षरों के बीच गिरे हुये आदमी को पढ़ो
क्या तुमने सुना कि यह
लोहे की आवाज है या
मिट्टी में गिरे हुए खून का रंग।"

[ वेड़ न० २ की अन्तिम कविता ]

अन्त में धूमिल के स्वजातीय स्वजन श्री राम लखन पाठक ने लकड़ी की एक व्यावसायिक फर्म 'मेसर्स तलवार ब्रदर्स प्राइवेट लिमिटेड' में, धूमिल को 'पासिंग आफिसर' के पद पर नियुक्त करा दिया। अपनी इस नौकरी के दौरान, धूमिल डेढ़ वर्ष तक भारत के विभिन्न जंगली और पहाड़ी इलाकों में घूमा। उसने अपनी खुली आँखों से यह देखा कि मेहनतकश जनता और पूँजीपति मुर्दाफरोशों के बीच कितनी दूरी है। मजदूरों के साथ धन-पशुओं के घृणित व्यवहार को देखकर, उसने यह महसूस किया कि पिरामिडों के शिखरों का सम्पूर्ण शिला-लेख गुलाम मजदूरों ने अपने आँसुओं और खून से लिखा है।

यहीं से वह इस वैषम्यता के सामाजिक कारणों पर विचार करने लगा था। यहीं से उसमें जनवादी-संघर्ष की पहचान शुरू होती है। यहीं से उसका विद्रोह एक नयी आँच में ढलकर—बाद में कविताओं की शक्ल में, हमारे सामने आता है। अपनी स्वीकारोक्तियों में —

यद्यपि यह सही है कि मैं
कोई ठंडा आदमी नहीं हूँ
मुझमें भी आग है
मगर वह
भभक कर बाहर नहीं आती
क्योंकि उसके चारो तरफ चक्कर काटता हुआ
एक 'पूँजीवादी' दिमाग है

[ पटकथा ]

इस पूंजीवादी 'टावर' में कैद—अपनी अधूरी इच्छाओं में झुलसता हुआ वह, हमें संभावित नारकीय परिस्थितियों से अवगत कराता है ।

सचमुच मजबूरी है
मगर जिन्दा रहने के लिए
पालतू होना जरूरी है ।

[ शहर का व्याकरण ]

इस मजबूरी के बाद भी, अपने भीतर की आग को वह 'पूंजीवादी' दिमाग के हवाले नहीं कर सका । अपनी इस नौकरी के दौरान—जब वह बीमार होकर, चारपाई पर पड़ा था । कम्पनी के मालिक मि० तलवार ने, उसे ट्रंकाल द्वारा तत्काल मोतीहारी से गोहाटी जाने का आदेश दिया । धूमिल ने मि० तलवार को बताया कि "मैं अस्वस्थ हूँ ।"

इस पर क्रुद्ध होकर मि० तलवार ने कहा—"I am paying for my work, not for your health."

प्रत्युत्तर में धूमिल ने हथौड़े की तरह चोट करते हुए कहा—"But I am working for my health, not for your work."

और इसके बाद वह चार सौ पचास रुपये माहवार की नौकरी, ६ पैसे प्रति घन फुट कमीशन, सारे टी.ए., डी.ए. पर लात मार कर—सीधे घर चला आया । स्वाभिमान व्यक्तिगत ईमानदारी का आदिम पर्याय है । धूमिल इस मामले में बहुत आगे था । आत्म-हीनता के विरुद्ध उसका अनवरत संघर्ष इस बात का ज्वलन्त साक्षी है । तमाम विसंगत परिस्थितियों के उपरान्त वह अपनी मानवीय संभावनाओं में ज्वलन्त है । अपनी संवेदनाओं में वह कितना स्वस्थ और प्रखर है—

दुख होता है अगर किसी को
मिली नौकरी छूट गई हो
लेकिन उतना नहीं
कि जितना—
बार-बार सुनने पर भी फटकार

आदमी, लौट काम पर
फिर आया हो—
कालर फटी कमीज पहनकर

[ सापेक्ष्य-संवेदन ]

× × × ×

आकृतियों को
सीमाओं में अर्पित होने का सुख
स्वीकृत हो,
और सीमाओं को
मृत-पुत्रों के जीवित हो उठने की
आश्वस्ति………।

[ प्रार्थना ]

कलकत्ता की नौकरी छोड़ने के वाद—धूमिल ने जनवरी १९५७ में—'आई० टी० आई० वाराणसी' में एडमिशन ले लिया। सन् १९५८ में सर्वाधिक अंकों से उत्तीर्ण होकर, अपने प्राचार्य के आग्रह पर, उसने अपने आपको (अपनी प्रकृति के विरुद्ध) सरकारी सेवा-कार्य के हवाले कर दिया। जिसका पश्चाताप उसे मृत्यु-पर्यन्त रहा। १९६१ में उत्तर प्रदेश सरकार से टेक्निकल वीक सेलेक्शन का 'कन्वे' प्राप्त करके, वह पर्यवेक्षक की हैसियत से बलिया चला गया। जहाँ अपनी कर्मठता और व्यवहार कुशलता से, उसने इस संस्थान को उत्तर प्रदेश का 'सर्वोत्तम संस्थान' बनाकर, राज्य सरकार से प्रशस्ति-पत्र प्राप्त किया। किन्तु विभागीय वरिष्ठ अधिकारियों की नौकरशाही का शिकार होकर, पुनः उसे आई० टी० आई० वाराणसी लौट आना पड़ा। सीमाओं में बँधा हुआ वह देख रहा था—

व्यवस्था की खोह में
हर तरफ
बूढ़े और रक्त-लोलुप मसालची
घूम रहे हैं

इतिहास की ताजगी
बनाये रखने के लिये
नौजवान और सफल
मौतों की टोह में

[भाषा की रात]

१५ मार्च, १९७५

× × ×

मैं सतह की धूप-सा
फैला हुआ था
पर अंधेरे ने
मुझे चमका दिया
केन्द्र पर बरबस
अकेला घेर कर

[आत्माभिव्यक्ति]

एक लम्बे अर्से तक गीतों पर काम करने के बाद—गीतकार धूमिल की नयी कविता-यात्रा का गंभीर दौर शुरू होता है। इस सिलसिले में सर्वप्रथम वह प्रसिद्ध चित्रकार रामचन्द्र शुक्ल और कथाकार डा० शिवप्रसाद सिंह के सम्पर्क में आया। इनके माध्यम से वह प्रख्यात मार्क्सवादी समीक्षक डा० नामवर सिंह और उनके अनुज युवा कहानीकार डा० काशी नाथ सिंह से घनिष्ठ रूप में जुड़ गया। कवि, विचारक और व्यक्ति के रूप में, त्रिलोचन उसके लिये एक मानदण्ड थे। नामवर जी ने धूमिल के व्यक्तित्व को मांजा, त्रिलोचन ने उसमें भाषिक समझदारी पैदा की और काशी नाथ सिंह ने उसे नये अन्तरिक्षों से जोड़ा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० विद्यानिवास मिश्र जैसे समकालीन चिन्तकों के बीच, उसने साहित्य के नये काव्य-मूल्यों और आयामों को गम्भीरता से समझने का प्रयास किया। राजकमल चौधरी से एलेनगिन्सबर्ग तक, वह अपने संधान की दिशाओं में अनवरत गतिमान रहा। अपनी उपलब्धियों को उसने कटु अनुभवों की रोशनी में, अपने कठोर साहित्यिक प्रयासों से हासिल किया। सन् ६९ में जब मैं पहली बार धूमिल से मिला,

उस समय तक बनारस में घूमिल और काशी भाई की जोड़ी अपनी सक्रियता और नये तेवर के कारण चर्चा का विषय हो चुकी थी।

मैं अपरिचित भीड़ की
आवाज़……
व्यक्त मुझको कर गईं
खामोशियाँ
आकाश की……।

[आत्माभिव्यक्ति]

साहित्यकारों की जमात में घिरा धूमिल, अपनी खनकदार-बुलन्द आवाज के कारण दूर से पहचान में आ जाता था। आन्तरिक तनाव की स्थिति में बात-बात में मूँछ पर ताव देकर, आस्तीन चढ़ा लेना—उसकी एक खास आदत बन गई थी। वह अपने सामने बैठे व्यक्ति के सिर पर अकस्मात् कोई मुहावरेदार वाक्य पटक देता था और जब सामने बैठा आदमी, अपने नियंत्रण से बाहर आकर—बकने लगता था, तब घनी मूँछों पर हाथ फेर कर—धूमिल हल्के से मुस्कराता था। ऐसे मौकों पर उसकी आँखों में एक खास किस्म की चमक पैदा हो जाती थी और वह अपने ताबड़तोड़ हमले से, प्रतिपक्षी को (उसके वक्तव्यों के अन्तर्विरोधों द्वारा) धराशायी कर देता था। यह धूमिल की अपनी 'साइको स्ट्रेटजी' थी, जिसका प्रयोग शिल्प के रूप में, उसकी कविताओं में मौजूद है।

× × × ×

ऐसे में
जब कि खरगोश की छलाँगें और उदासी,
चन्द्रलोक की यात्रायें और नीग्रो समस्यायें
एक ही लकीर पर खड़ी हों
बड़ी मुश्किल से अपना हो पाता है
धूप में टूटता हुआ एक दिन

[यात्रा-प्रसंग]

व्यवहारिक स्तर पर वह अपने लेखन, सामाजिक और पारिवारिक जिम्मेदारियों के प्रति समान रूप से प्रतिबद्ध और जागरूक था। नौकरी की किचकिच से वह ऊब गया था। अपने आखिरी दौर में वह इस्तीफा देकर, पूरी तौर पर खेती-बारी और स्वतन्त्र लेखन के बारे में सोचने लगा था। कंचन कुमार के साथ वह 'सुकान्तो' की कविताओं को हिन्दी की वर्दी में उतार रहा था।

अकस्मात् उसे अपनों से काट कर—सन् १९६६ में पुनः सहारनपुर उठा कर पटक दिया गया। धूमिल की मानसिक अराजकता के पीछे छिपे सामाजिक कारणों को हम धूमिल के भीतर समझ सकते हैं। सहारनपुर के इस आत्म-निर्वासन काल में—उसने पहाड़ी लोगों के जीवन और उनकी समस्याओं को करीब से देखने और समझने का प्रयास किया। उसके इन तमाम स्थानान्तरणों के पीछे उच्चपदाधिकारियों के आक्टोपस चेहरे थे, क्योंकि 'उत्तर प्रदेश औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थानों' के कर्मचारियों की 'मेरठ कान्फ्रेन्स' के संयोजक मास्टर सुदामा पाण्डेय थे, जिसमें उन्होंने—खुले अधिवेशन में, उच्च अधिकारियों के कुत्सित-षडयन्त्री चेहरों को बेनकाब कर दिया था। विक्षुब्ध होकर अधिकारियों ने, उसे पुनः बनारस से सीतापुर फेंक दिया। इस बीच धूमिल पूरी तौर पर खेती और साहित्य से जुड़ चुका था। इसलिये वह किसी भी शर्त पर बनारस नहीं छोड़ना चाहता था। उसकी यह आन्तरिक यातना, उसकी कविताओं का विस्फोट है—

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि एक धक्के ने
मुझे दूर फेंक दिया। इससे पहले कि मैं गिरता
किन्हीं मजबूत हाथों ने मुझे टेक लिया।
अचानक भीड़ से निकल कर एक प्रशिक्षित दलाल
मेरी देह में समा गया। दूसरा मेरे हाथ में
एक पर्ची थमा गया। तीसरे ने मुझे एक मुहर देकर
पर्दे के पीछे धकेल दिया।
भय और अनिश्चय के दुहरे दबाव में
पता नहीं कब और कैसे और कहाँ
कितने नामों और चिह्नों और शब्दों

को काटते हुए मैं चीख पड़ा—

हत्यारा ! हत्यारा !! हत्यारा !!!

[ पट-कथा ]

कुयें में पड़े पत्थर की तरह उसकी यह खोई हुई चीख···अपने व्यक्ति के करुण एकान्त में, भीतर-ही-भीतर टूटकर ढहते हुए, एक 'हरक्यूलियन पर्सनाल्टी' की, हत्यारी-संभावनों के नीचे एक खुला इतिहास है।

रोशनी सूंघने वाले जासूस कुत्तों का
एक खतरनाक झुंड
उनके इशारों का इन्तजार कर रहा है

[ भाषा की रात ]

इन हत्यारों...और शिकारी कुत्तों के दुहरे दबाओं से गुजरता हुआ, अन्ततोगत्वा सीतापुर जाकर धूमिल ने अपना पद-भार ग्रहण कर लिया, किन्तु पुनः उसी दिन लौट कर वाराणसी चला आया। यह स्थानान्तरण धूमिल का अन्तिम स्थानान्तरण साबित हुआ। सिर के भयानक दर्द से पीड़ित होकर, वह सन् १८ अक्तूबर, १६७४ को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के मेडिकल कालेज में भर्ती हुआ। सारा इलाज बेकार साबित हुआ। घण्टे-घण्टे पर वह मूर्छित हो जाता था। धूमिल के घनिष्ठ मित्र डा० एस० एन० चन्द्रा ने एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया, किन्तु सब कुछ बेकार था। जांच के बाद डा० कटियार ने बताया—"कि धूमिल को ब्रेन-ट्यूमर है। हौलनाक नारकीय यातनाओं से गुजरता हुआ व्यक्ति, ब्रेनट्यूमर का शिकार नहीं होगा तो और क्या होगा? अन्ततः डाक्टरों की राय से उसे १ नवम्बर, १६७४ को के० जी० मेडिकल कालेज लखनऊ में भर्ती किया गया।

बेड नं० २ पर—कटे हुए मजबूत दरख्त-सा धूमिल, जिन्दगी और मौत के बीच की दूरी को खामोशी से नापता रहा—इर्द-गिर्द बीमार चेहरों की भीड़ में···उसके भीतर का यह आतंक···खौफ़नाक एहसासों का दायरा बनाता है···

आज अंधेरा है और खून
लगा हुआ है हाथों में

जिसे हमने हासिल किया है
वह पालने में नहीं—रक्त लथपथ
कराहों की बगल में पड़ा है ।

[ आज मैं लड़ रहा हूँ ]

लखनऊ के सारे मित्रों ने खून-पसीना एक कर दिया। डाक्टरों की जी-तोड़ कोशिशों के बावजूद १० फरवरी, १९७५ को रात नौ बजकर पचास मिनट पर—धूमिल ने अपने मजबूत ढाँचे को बेड नं० २ पर हमेशा के लिए छोड़ दिया। भीतर बजते जल-तरंग-सी उसकी कविताओं की पंक्तियाँ··· दीवारों से टकरा कर खामोश हो गई हैं······

एक भी हथेली ऐसी नहीं है
त्रास भरे चेहरों ने
जिस पर उड़ेला नहीं
सागर की बूँद-बूँद देह
वज्रपात ! हिमपात !!

हिमपात ही तो है। आखिर इससे बड़ा वज्रपात और क्या हो सकता है कि समय से पहले मौत ने उसको हमसे छीन लिया है।

× × × ×

'सहना ही जीवन है जीवन का जीवन से द्वन्द है—
मेरी हरियाली में मिट्टी की करुणा का छन्द है'

[ दूसरे का घर ]

मिट्टी की करुणा के छन्द का कवि गाकर खामोश हो चुका है। कन्हैया की आँखों में आँसू है और वह रुँधे गले से बोल रहा है—"माँ और भाभी, जो लखनऊ में ही थीं, मैंने उन्हें यह सब नहीं बताया कि—'भैया अब नहीं रहे।' लोकनाथ आँखों की ओट···छिपकर रो रहा था। गीत के मीत ठाकुर भाई ( कवि ठाकुर प्रसाद सिंह ) दम तोड़ने से पूर्व, धूमिल को···देखकर, रोते हुए लौट गये थे। आखिरी वक्त में धूमिल—ठाकुर भाई से कुछ कहना चाहते थे,

किन्तु ओठ थरथरा कर खामोश हो गये थे, दर्द आँखों की राह बह रहा था। दारुण व्यथा है यह सब···। अन्त में छाती पर पत्थर रखकर, इसकी सूचना मैंने सर्वप्रथम १० बजे रात कुँवर नारायण जी को दी। जाड़े की उस सर्द रातमें··· कुँवर नारायण जी, श्रीलाल शुक्ल के साथ—मेरे पास आ गये थे। किन्तु धूमिल की लाश पर पड़ी हुई मौत की सफेद चादर को उलटकर, वे उनका मुर्दा चेहरा देखने का साहस अपने भीतर नहीं जुटा पाये थे।"

थकी हुई घायल आहुतियाँ·······
शून्य के बन्दीगृह में सिसक उठी हैं।
···　　　　···　　　　···
—महाकाल फिर जीत गया है·······

[ धूमिल ]

×　　　×　　　×　　　×

११फरवरी, १९७५ को दस बजे दिन तक 'काली गाड़ी' धूमिल के शव के साथ हरहुँआ बाजार में आ गई थी। हरहुँआ बाजार में आकर, धूमिल की पत्नी और माँ को यह पता चला कि गाड़ी में धूमिल नहीं, धूमिल की लाश है···। शाम ६ बजे मणिकर्णिका के महाश्मशान में—चिता की लपटों के बीच···हिन्दी साहित्य का एक अन्तरिक्ष···जलकर राख हो गया···। कैसा विद्रूप है यह कि धूमिल की अर्थी को काशी का एक भी साहित्यकार अपना कंधा नहीं दे सका।

मय्यत को मेरी हमनशीं अफ़सोस है यही,
तू ही फ़क़त न आये सभी दफनाने आ गये।

जख्मों के आइने में कितना साफ है धूमिल—

पता नहीं कितनी रिक्तता थी—
जो मुझमें होकर गुजरा—रीत गया।
पता नहीं कितना अंधकार था मुझमें
मैं सारी उम्र चमकने की कोशिश में
बीत गया।

[ उसके बारे में ]

अपने पीछे बाइस व्यक्तियों का एक दुखी परिवार छोड़कर, धूमिल हमारे कंधों पर एक जिम्मेदारी का बोझ डाल गया है।

—और पड़ोस के प्रेत······

सीवान में···अपनी पैशाचिक मुद्राओं में अट्टहास कर रहे हैं।

परिवार की आँखों में भय की काली छाया है···।

धूमिल के सामने भी प्रेत खड़े थे। कन्हैया के सामने भी प्रेत खड़े हैं···।

× × × ×

सीवानों में रात का अंधेरा बोल रहा है। पाही से लौटकर, हम बैठके में आ गये हैं। भोजन के बाद—लालटेन की मटमैली रोशनी में, हम पुनः धृतराष्ट्र-लिपि की फाइल पर झुक गये हैं। लाल रोशनाई कागज के सीने पर लकीरों में कौंध रही है। ···मौत का आखिरी दस्तावेज है न! बारह बज चुके हैं। कछारों से गीदड़ों के रोने की आवाज आ रही है। कन्हैया की आँखों में नींद का आग्रह है। फाइल समेट कर, हम चारपाई पर चित्त हैं। मुझे नींद नहीं आ रही है। चारपाई में खटमल हैं। खूनखोर हर जगह मौजूद हैं। धृत-राष्ट्र लिपि की सारी पंक्तियाँ····पिकासो के संत्रासी चित्रों-सी—आँखों में तैर रही हैं···। मुझमें भय समा गया है—इन पंक्तियों को जोड़ने की कोशिश में—कहीं मैं ब्रेनट्यूमर का शिकार तो नहीं हो जाऊँगा ?···दुःस्वप्नों में रात कट गई है। सचमुच—

रात खत्म हो चुकी है
और वह सुरक्षित नहीं है
जिसका नाम हत्यारों की सूची में नहीं है

[ हत्यारी संभावनाओं के नीचे ]

सुबह की चाय पीकर—हम पुनः फाइल में खो गये हैं। काफी काम पूरा कर लिया है हमने। दस बज रहे हैं। कन्हैया को आफिस ( रोजगार दफ्तर ) जाना है। स्नान और भोजन के बाद साथ-साथ हम शहर की ओर हैं। आँसुओं के ताल से झाँकता····माँ और चाची का दरका हुआ चेहरा···पीछे छूट गया है। यथार्थतः कवि इन्हीं छोटे-छोटे ब्योरों को गाता है—

उसकी यही शाख है
उसके लिये कविता सिर्फ शब्दों की बिसात नहीं,
वाणी की आँख है

[ बारिस में भीगकर ]
२५ नवम्बर, १९७५

× × × ×

संकेत-चिह्नों के आधार पर कन्हैया ने साठ कविताओं की पाण्डुलिपि तैयार कर ली है। बड़ी मेहनत की है कन्हैया ने। धूमिल का भाई है न! अब हम मूलप्रति से पाण्डुलिपि के शब्द-शब्द को मिला कर जाँच रहे हैं। सब कुछ ठीक है। कहीं कोई शब्द और संकेत-चिह्न नहीं छूटा है। सारा काम पूरा हो चुका है। धूमिल की फाइल में 'त्रिलोचन अध्ययन केन्द्र' की रसीदें हैं। यह 'युवा विचार-मंच' के रूप में धूमिल का सपना है। सपने कभी पूरे नहीं होते। नहीं, होते हैं। मगर सपनों को आकार देने के लिये खून देना पड़ता है। और अब धूमिल के बारे में बातें करते हुए, हम शहर की ओर बढ़ रहे हैं। आज धूमिल के मुकदमें की तारीख है। बेशक—

भूख और भूख की आड़ में
चबाई गई चीजों का अक्स
उनके दाँतों पर ढूँढ़ना
बेकार है।

[ पटकथा ]
१३ फरवरी, १९७६

× × × ×

उपलब्ध रचनाओं के आधार पर, अपनी सामाजिक पृष्ठ-भूमि में धूमिल, समकालीन हिन्दी कविता का 'हिमालयन ब्लण्डर' है। अपनी वर्गीय समझ के मातहत वह कविताओं द्वारा सीधे सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करता है। यानी कविताओं द्वारा व्यक्ति के भीतर वैचारिक संक्रमण करता है। यह उसके

कवि की ताकत है। अपने यौन-प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से जहाँ वह समाज के 'पैरालाइज्ड' अंगों को 'शॉक' देता है, वहीं हमें अपनी वर्गीय-चेतना की स्पष्ट पहचान भी करा देता है। धूमिल की कविताओं के भीतर का अंतर्विरोध, अपनी ऐतिहासिकता में, आज के समूचे युवा-लेखन का अंतर्विरोध है।

भाषा, भाव-भूमि, कथ्य और अपने शिल्पगत प्रयोगों में वह, अपने समकालीन रचनाकारों से एकदम पृथक् और बेजोड़ है। धूमिल की कविताओं का ढाँचा, उसकी काठी जैसा शक्तिशाली और मजबूत है। धूमिल को समझने के लिये, पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर, संजीदगी से उसकी जमीन पर खड़ा होकर सोचना जरूरी है, जो उसके खून-पसीने और आँसुओं से तर है...।

अनुभव के नये-नये पृष्ठों पर
भाषा के समर्थन में बूँदें गिरतीं हैं
जैसे सामूहिक हस्ताक्षर अभियान में
आसमानी दस्तखत।

[ बारिस में भींगकर ]

× × × ×

मैं एक दिग्नाम संज्ञा हूँ
जिसकी परिभाषा अभी तक नहीं हुयी
मुझको दुहरा दो—
दर्पण के आर-पार
अनायातित बिम्बों में
मुझको दुहरा दो।

[ प्रार्थना ]

दिग्नाम संज्ञा-सा अपरिभाषित धूमिल का व्यक्तित्व, साठोत्तर पीढ़ी के अनवरत आत्म-मंथन का एक सार्थक परिणाम है। कविता की भाषा और अपने आत्मीय-स्वरों में वह ध्वस्त-अन्तरात्माओं का इन्द्रधनुषी-सेतु है।

अन्तरिक्षों के आर-पार अपनी खुली हुई आँखों से झाँकता धूमिल—एक शिशु है जो अपने परिवर्तित आयामों में—हमें नये अर्थ-मूल्यों से जोड़ता है। निर्विकल्प वह अपनी हरियाली में—'मिट्टी की करुणा का छन्द है' जो कभी बादलों को चाबुक से पीटकर, जीवन-रस गारता हुआ—हमारे सामने आता है और कभी बिजली-सा सारे आकाश में दौड़-दौड़—सदियों से रौंदी हुई घास को पुकारता है और कभी छापामार दस्ते के अगुआ की तरह देह के जंगल में खो जाता है···।

अपने विभाजित व्यक्तित्वों में किसी का विवादास्पद हो जाना—एक स्वाभाविक सी बात है। किसी भी व्यक्ति को उसके संदर्भों में जिए बगैर कैसे समझा जा सकता है? किन्तु मैंने धूमिल को देखा है—समझा है—जाना है। उसे सामने देख कर—आँखों में हरे दरख्तों के जंगल उग आते थे। लगता था जैसे आस-पास कोई धान और गन्ने की फसलों का नया गीत गा रहा है। अपने परिष्कृत ग्रामीण-परिवेश में—बड़ा बाँका और सजीला जवान था वह। रगों में दौड़ते हुये ताजे खून-सा, अपने विचारों में परिवर्तन के अग्निचक्र-सा दहक रहा था वह!—अछोर अन्वेषण की संभावित यात्राओं में···। व्यक्ति-सत्य को व्यापक दृष्टि से आत्मसात् करता हुआ, वह आगे बढ़ जाता था। इस लिये वह संकीर्ण मान्यताओं से बाहर था। इसलिये वह अंध-श्रद्धाओं के तर्पण से मुक्त है।

अपनी आक्रामक मुद्राओं में वह—व्यक्ति नहीं, व्यक्ति के दंभ पर चोट करता था। अपने भीतर के अन्धकार को इष्ट-मित्रों और परिचितों के बीच फटे-चिथे नक्शे-सा फैला कर—संभावना के विभिन्न ध्रुवान्तों पर वह घंटों बहस करता था और इस दौरान उसके भीतर का 'शिशु' खेल-खेल में बहुत सारे परिचितों-अपरिचितों की स्थापित आस्था-मूर्तियों को खिलौने की तरह तोड़कर कमरे से बाहर फेंक देता था। और तरंग आ जाने पर इन खंडित प्रतिमाओं को जोड़कर, वह अपने 'शिशु-सृजन' को नया रूप देने लगता था। उसके भीतर अपने अन्तर्निषेधों की विरूप आकृतियों को—प्रत्याक्रमण की विभीषिकाओं में देखकर, लोग आतंकित हो जाते थे। इसलिये धूमिल—अपने एकान्त में कहीं एकदम अकेला था। दर्पण के आर-पार···दुहराये गये अनायातित बिम्बों में—शिशु हृदय धूमिल को कौन पहचानेगा?

कोई पहाड़
संगीन की नोक से बड़ा नहीं है
और कोई आँख
छोटी नहीं है समुद्र से
यह केवल हमारी प्रतीक्षाओं का अन्तर है—
जो कभी
हमें लोहे या लहरों से जोड़ता है।

[ अन्तर ]

अपने परिचय के वृत्तों में धूमिल एक विस्तृत आकाश था। इस आकाश पर अपना नाम लिखकर—आँखों से दूर···वह कहीं खो गया है। घर-आँगन से लेकर 'मोची राम' तक उसका व्यक्तित्व-एक खुली हुयी किताब है। जिसके हासिये पर धूमिल—कविता-पंक्तियों में दर्ज है—

रात जब युद्ध एक गीत-पंक्ति की तरह
प्रिय होगा हम वायलिन को
रोते हुये सुनेंगे
अपने टूटे संबंधों पर सोचेंगे।
दुखी होंगे।

[ दिनचर्या ]

परिवार के लिये वह माँ का हृदय और पिता की छाँह था। रागात्मक अनुभूतियों से भरा हुआ, एक निश्छल और स्नेहार्द-स्वर···। नौजवान बेटे की मौत की टीस-सा गाँव के मजबूत कंधों के भीतर वह आज भी मौजूद है। उत्पीड़ित किसानों-मजदूरों का वह अपना सगा भाई था। खंड-खंड अपने अस्तित्वों में आज भी वह अपने सम्बन्धों के बीच है। संकीर्ण शब्द-कोशों का वह—अवरुद्ध विस्फोट था—क्रुद्ध समुद्रों के घातों-प्रत्याघातों के मध्य चट्टान के अकम्पित मेरुदंड-सा····दुर्द्धर्ष ! उसकी अस्थियों की रोशनी में···उसके हृदय की चट्टान पर, खून से लिखे गये, उसकी आत्म-आहुति के ताजे शिला-लेख को हम आज भी पढ़ सकते हैं।

तुम पशु बनने को तैयार नहीं हो।
तुम्हारे चेहरे से आज भी आदमीयत की गंध
आती है।

[ दूसरे का घर ]

दाँत और सिक्के के बीच की दूरी तय करता हुआ वह दीवारों की मातृ-भाषा से बाहर चला आया था। उपेक्षा और उपहास की पाषाण-वृष्टि में··· भींगता हुआ उसका पुरुषार्थ—अपने आप में एक कविता है। अपने कवि की भूमिकाओं में वह केवल 'मनुष्य' है—नये सामाजिक मूल्यों के लिये संकल्पित और प्रतिबद्ध··· ।

× × ×

यादों के कंधों पर
जड़ा हुआ यक्ष-नगर
कितना अतृप्त है;
ओ री ! ओ यौवन की कस्तूरी-गंधिका ! !
मेरे सिरहाने
अंतरिक्ष फिर टूट गया···· ।

[सन्नाटा]

'खंडित-अंतरिक्ष धूमिल' के कृतित्व को समझने के लिये—उसके व्यक्तित्व को सही ढंग से समझना निहायत जरूरी है। दोनों पहलुओं को दृष्टि में रखते हुये, अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों में ( वर्तमान सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थियों की रोशनी में ) सहानुभूतिपूर्ण ढंग से उसके वैज्ञानिक मूल्यांकन की आवश्यकता है। ह्रासोन्मुख जंगली हरकतों के खिलाफ···संघर्षरत धूमिल, अब हमारे बीच नहीं है। इसलिये हमरा दायित्व और अधिक गंभीर है। क्योंकि—

नवाबगंज की इस बस्ती में देश का
काँपता हुआ कलेजा हरबार छला है।
बन्दूक में बया का घोंसला है।
—ढकोसला है।

[ प्रवंचना ]

प्रस्तुत संग्रह धूमिल की मूल पाण्डुलिपि का संपादित रूप है। इसमें मैंने कहीं कोई परिवर्तन नहीं किया है। 'भाषा की रात में : धूमिल की भूमिका'—उसके कुछ एक पत्रों-निबंधों और डायरी के वाक्यांशों का संयोजित आकलन है। धूमिल को समझने के लिये—यह महत्वपूर्ण संकेत है। वस्तुतः मेरा सारा वक्तव्य-समीक्षा से पृथक्—धूमिल के व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित, एक संक्षिप्त रिपोर्ट है। इसकी रोशनी में, आप कुछ तलाश सकें, यही मेरा आन्तरिक दृष्टिकोण है। ऐसे—

उन परिवारों की चर्चा व्यर्थ है
जहाँ चश्मे का नम्बर ही कविता का अर्थ है।

[खंड-खंड धूमिल]

सम्पूर्ण मूल्यांकन के लिए अभी हमें धूमिल की शेष कविताओं की प्रतीक्षा करनी होगी।

[ दीपावली ]

२२ अक्टूबर, १९७६

अंततः प्रेरणाओं के स्तम्भ कवि श्री त्रिलोचन शास्त्री और आदरणीय पंडित विद्यानिवास मिश्र को मेरी अर्पित संज्ञायें···। नयी संभावनाओं की प्रतीक्षा में प्रतिध्वनित डा० काशी नाथ सिंह को युयुत्सा की उपलब्धियाँ···। आवरण की पृष्ठ-भूमि में उपस्थित साथी देवी प्रसाद वटव्याल को रंगों के आदिम आकाश···। मुद्रण और प्रूफ-संशोधन के कठोर दायित्व-निर्वाहों में जागरूक भाई शिवशंकर मिश्र को आन्तरिक कृतज्ञताएँ। सार्थक सक्रियताओं में—आयुष्मान चन्द्र शेखर को प्रस्थान की मुद्राओं में कविताओं के अन्तरिक्ष। अनवरत सक्रिय आत्मीयताओं में उपस्थित कन्हैया जी और धूमिल परिवार को अनन्त कोटि सूर्य-बाँहों का सागर···। और—

ओ संघर्ष की मुद्रा में
घायल पुंसत्व ! तुमको मैं क्या दूँ ?
अपनी उपलब्धियों में शंकालु
तुमको मैं क्या दूँ ?

[ एक युग-कल्पना ]

त्रुटि-आकारों में, क्षमा-प्रार्थना के घुटनों पर······
२९ नवम्बर, १९७६

राजशेखर

# भाषा की रात में : धूमिल की भूमिका

'छायावाद के कवि शब्दों को तोल कर रखते थे,
प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोल कर रखते थे,
नयी कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे,
सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोल कर रखते हैं,

× × ×

कविता के लिए पाठक की संवेदना और सहानुभूति उसी तरह घातक है जिस तरह बिजली के धक्के से होश खोते आदमी को पानी पिलाना। कविता में साझेदारी ज्यादा सही है। और हो सके तो एक आवेग-हीन शब्द—शाबाश······!!

× × ×

समय के अनुसार चलना नहीं, बल्कि समय की माँग के अनुसार चलना आवश्यक है।

समकालीनता क्या है ?

रूप-रंग और अर्थ के स्तर पर आजाद रहने की, सामने बैठे आदमी की गिरफ्त में न आने की एक तड़प, एक आवश्यक और समझदार इच्छा, जो आदमी को आदमी से जोड़ती है, मगर आदमी को आदमी की जेब में या जूते में नहीं डालती।

स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा और उसके लिए पहल तथा उस पहल के समर्थन में लिखा गया साहित्य ही समकालीन साहित्य है।

× × ×

ऐसा क्यों है कि ज्यादातर लोग कविता से नहीं कविता के शिल्प से ऊब जाते हैं और सवाल जब समूची कविता को बदलने का है, वे महज शिल्प बदल देते हैं, गोया नींद में करवट बदल ली।

···पता नहीं रस्ते में कब धोखा दे जायें तार छोड़ते टायर—सी अपनी कविताएँ।

× × ×

भाषा में शब्दों की ट्रिक कामयाब होने पर कविता और असफल होने पर चमत्कार बनती है।

× × ×

कविता का एक मतलब यह भी है कि आप आज तक और अब तक कितना 'आदमी' हो सके हैं। दूसरे शब्दों में कहूँ तो यह कि कविता की असली शर्त 'आदमी' होना है।

× × ×

एकता पशुओं का आपद्धर्म है।

× × ×

कविता का मतलब है 'भाषा में आदमी होना।'

कविता हिंसा की हिंसा करती है।

× × ×

आदमी की 'विट' और कविता में 'विट' दो अलग-अलग चीजें हैं। 'कविता में विट' उस नाथ की तरह है जिसके जरिये बैल को एक रस्सी के सहारे हलवाहा का नन्हा इकलौता भी खेत तक पहुँचा आता है।

× × ×

'कविता में आना' यह सही है कि सरल नहीं है, मगर मेरे समीप इसके सिवा कोई दूसरा हल नहीं है। उलझनों के बाहर उलझते दिनों और तनावों में यह सही है कि—

घास के सूखने का दर्द
अब एक साथ सहते हैं साँड़
और मैदान

और मर्द
लेकिन सतहों के अक्सों को
दुहराता है चुपचाप नि-जड़ा आसमान
कीचड़ के जिस्म में। कहीं भी। कोई हलचल नहीं है।
कोई हलचल नहीं है।
जागती हुई रातों का
बहसों के बीच
बातों से बाहर
बेतहाशा भागती हुई बातों का
कोई हल नहीं है
हमारे पास
इसलिये कीचड़ में
शब्दों को फेंक रहा
देश अँधेरे में अपने को फेंक रहा।

× × ×

···आज का कवि वैज्ञानिक चेतना का कवि है, एक ऐसा कवि, जिसकी दृष्टि विश्व की सम्पूर्ण क्रिया-शीलता का अध्ययन कर रही है। उसके सामने तीव्र-गामी विकास है, निरंतर परिवर्तन की श्वांस से दहकता हुआ। हर वस्तु, हर मान्यता टकराती हुई, टूटती हुई और पुनः संयोजित होने के लिए आतुर। और स्थापत्य की इस भयावह संक्रामकता में अस्तित्व अकेला रह गया, घुटन भरे वातावरण में खण्डित व्यक्तित्व—। पर अनास्था हमारी कविता का मूल स्वर नहीं, और इसके प्रमाण हैं, नयी कविता के कुछ अंकुठित गायक···।

× × × ×

···आज नयी कविता बदनाम है, अपने शिल्पगत प्रयोगों के लिए नहीं, वस्तुगत जीवन मूल्यों के लिए नहीं, बल्कि खंडित बिम्बों के लिए अस्पष्ट, नितान्त असंगत एवं बौद्धिक प्रतीकों के लिए, अपनी गद्यात्मक एकलयता की वृत्ति के लिए और साथ ही घुटन में ऊब कर, शहीद होने की दिखावट के लिए।

भाषा की रात में : धूमिल की भूमिका : ३

व, जिसकी दृष्टि
उसके सामने तीव्र-
। हर वस्तु, हर
लिए आतुर। और
ह गया, घुटन भरे
विता का मूल स्वर
यिक···।
गों के लिए नहीं,
बों के लिए अस्पष्ट,
द्यात्मक एकलयता की
की दिखावट के लिए।

नयी कविता का नाम सुनकर हमारा पाठक कविता के प्रति अनास्था से उसी प्रकार भर उठता है जैसे किसी महंत को देख कर धर्म के प्रति। क्योंकि विगत छल-कपट एवं आत्मिक कष्ट-प्रवंचनाओं की प्रतिक्रिया हमारे विश्वास को झकझोर देती है। उसे कविता की अप्रेषणयीता या पाठक का बौद्धिक अविवेक कह कर झुठलाना वृथा है। हमें नयी कविता के आगे सोचना है, नयी कविता के नाम पर फैली विकृति के विषय में सोचना है। दलदल पर नये तख्ते रखने हैं ताकि नये भाव, नयी आस्थाएं उसे पार कर सकें। इसके लिए हमें एकान्त की 'दमघोंट' उचाट से बाहर निकल कर, प्रश्नों के उत्तर ढूढ़ते चौरस्तों पर खड़ा होना पड़ेगा।

× × × ×

···युवा लेखन अपना काम कर रहा है। पत्रिकाओं में और किताबों में, पाठ्य-क्रमों में संठ होने की जगह वह तेजी से 'जरूरी जनता' के हाथों तक, उनकी जुबान तक पहुँच रहा है। नये आँकड़े तै करो तो पता चले कि युवा लेखन से संबद्ध लोगों का दस्ता कितना बड़ा है और किस तरह तेजी से बढ़ रहा है। और यह पर्दानसीन साहित्यिक चोचलेबाजी···नाश हो इसका धीरे-धीरे जमीन्दोज हो रही है। इसका खात्मा जरूरी है। जो शुरू हो चुका है।

युवा लेखन के लिए राजनीतिक समझदारी जरूरी है। बिना इस राज-नीतिक समझदारी के आज का लेखन सम्भव नहीं। यह वर्गों की समझदारी है। क्या बराबरी का दर्जा और आत्म-हीनता से मुक्ति का रास्ता एक नहीं है? यह आता कहाँ से है? आर्थिक मुक्ति से। और इसी को सब टुकड़खोर और हरामखोर शब्दों के कुहासे से ढकने की व्यर्थ कोशिश करते रहे हैं। क्या युवा लेखक भी इसी में शरीक हो जाये? नहीं, वह इस षड्यंत्र के खिलाफ भीषण प्रतिशोध में लगा है। वह आफेंसिव है। सहना नहीं, अब वह प्रत्याक्रमण में भी पहल कर रहा है। ऐसे में टुकड़खोर भाषाई गुलाम फिर बहकावे में एक जुट हो रहे हैं और अपने भड़ौवे अन्दाज़ में मटक रहे हैं। 'युवा' होने और समकालीन समझ रखने की ताव के लिहाज से ऐसे में तुम्हें दुबारा सोचना है कि तुम लोग क्या करोगे?

—धूमिल

…अपरिचित भी जानता है
उजले केशों वाली रोशनी ने
जब भी दस्तक दी है
दरवाजे खुलते हैं

## जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु पर

—दिन
जो सुबह सुबह शुरू हुआ
दोपहर में
खत्म हो गया
मेरा सूरज खो गया

शेष बचा जो कुछ, उसको
काली छाया में
यह कोई बीमार रोशनी
अंधकार की ओर दौड़ती
धरती पर फिर—
फिसल गयी है

युग-युग से विकास-पथ
जिससे आलोकित था
आह ! वही मोती की आभा—
मेरी मुट्ठी खोल अचानक निकल गयी है

और एक युग बीत गया है
थकी हुयी घायल आहुतियाँ आज शून्य के बन्दी गृह में
सिसक उठी हैं

हवाओं में एक ही चर्चा है—
महाकाल फिर जीत गया है।
सबकी आखों में एक ही भय
झाकता है

असंख्य मुरझाये गुलाब
हवा में उड़ते हुए संकेतों से पूछते हैं—
कहाँ हैं वह प्यार और दर्द भरा अपनापन
जो हमें सीने पर टाँकता था।

पार्कों में बच्चे नहीं हैं
किसी असम्भव मृत्यु की सूचना की तरह
( दृश्य धूप के पन्नों पर उड़ते हैं और )
मैं एक विशाल बरगद को
सड़क के बीचो बीच गिरा हुआ
देख रहा हूँ।

भूत-कालीन क्रियाओं से
घिरे हुए लोग
समय की अर्थी उठाए चल रहे हैं

चीत्कार करती दिशाओं में
हर कहीं दीखता है
विवर्णमुख
आदमी का सुख।
बेसाख्ता चीखता है

हे ईश्वर ! हमें शक्ति दे
कि हम अपनी असमर्थताओं पर
शर्म करें, क्षमा के योग्य हों
और खुलकर रो सकें।

हे ईश्वर ! हमारे रिस्तों में बल दे
हमारी रीढ़ की हड्डी में बल दे
कन्धों को थपथपा
कि हम आगत के लिए जिएँ
प्रस्तुत को ढो सकें।

सबके मन में केवल इतनी चाह है—
कोई आए''''''और''''''और
इतना कहे

—अरे सत्य यह नहीं, महज़
अफवाह है।
अभी अभी तो हम
विकास के अभियानों में जुड़े हुए
आगे बढ़े, किन्तु फूलों से चमन हमारा भरा नहीं है
रुको हवाओं
समाचार के पीछे, मत हमको दौड़ाओ
अभी हमारा वीर जवाहर मरा नहीं है।

## आस्था

रोशनी के दस्तावेज़
फट गये हैं
और टूट गई है
उपलब्धियों की वार्ता

फिर भी
अंधेरे की मुंडेर पर
अमर-बेलि लहकी है :
मुझमें पूरे समूह का भय—
चीखता है
दिग्विजय ! दिग्विजय ! !

## दस्तक

हम न देखें
लेकिन अन्धकार वर्ष को चीर कर
प्रकाश की लचोली बांह
हमें छूती है

हम दरवाजा न खोलें
लेकिन शहर में
किसी भी सड़क पर
घूमने वाली बीमार रफ्तार
इस अस्पताल के सदर गेट पर
दस्तक देती है

हम न कहें
लेकिन चेहरों पर टँगे, नक्शे से
अपरिचित भी जानता है
रेखाएँ, चिह्न
आकार, विन्दु
न केवल असफल वर्णन है
न केवल उदासीन मानचित्र
हम न देखें—अपने को

हम न कहें—किसी से
लेकिन अपरिचित भी जानता है
उजले केशों वाली रोशनी ने
जब भी दस्तक दी है
दरवाजे खुलते हैं
और मिलता है मस्तिष्क में
एक भरा पूरा नगर
जहाँ बूढ़ी रोशनी के साथ
हम भी हो लेते हैं।

## देश-प्रेम : मेरे लिए
( एक बीमार आदमी का वक्तव्य )

दिन भर के बाद
भोजन कर लेने पर
देश-प्रेम से मस्त एक गीत
गुनगुनाता हूँ
जिसे अमीर खुसरो ने लिखा है :
अन्य लोगों की तरह
मैं इतना कृतघ्न नहीं कि उस जमीन को—धिक्कार दूँ

जिस पर मेरा जन्म खड़ा है
मेरे लिए मेरा देश—
जितना बड़ा है : उतना बड़ा है।

वह दिन बीत गया
जब किसी ने रिपब्लिक की जिल्द पर
सुकरात की अत्यन्त कामातुर तस्वीर—चिपका दी
और मैं दुखी हो गया,

वह दिन भी बीत गया—
जब जमीन पर देशों की सीमाएँ खिचते ही

मेरे मुख पर झुर्रियाँ बढ़ जाती थीं
किन्तु, जो कभी नहीं की—
वही मैंने अब सीखो
रोना—और भूख के लिए
निरा पागलपन है
देश-प्रेम मेरे लिए—
अपनी सुरक्षा का
सर्वोत्तम साधन है।

सचाई अब मुझसे इतनी करीब है
कि रोशनी का होना भी
मेरे लिए केवल तहजीब है।

( हर चीज साफ है—
अपने हैं आप तो
सौ खून माफ है। )
नेकर के नीचे का सारा नंगापन
कालर के ऊपर उग आया है :
चेहरे बड़े घिनौने लगते,
पर इससे क्या फर्क पड़ गया
अगर बड़ी छायाओं वाले बौने लगते……

और अन्त में—
सबकी सुनकर
सब कुछ गुनकर

मैंनें भी नकशे के ऊपर
लाल कलम से जगह घेर दी
और उसी सीमा के भीतर
अपने घायल कबूतरों को
फिर से उड़ना सिखा रहा हूँ।

## किस्सा जनतंत्र

करछुल—
बटलोही से बतियाती है और चिमटा
तवे से मचलता है
चूल्हा कुछ नहीं बोलता
चुपचाप जलता है और जलता रहता है

औरत—
गवें गवें उठती है—गगरी में
हाथ डालती है
फिर एक पोटली खोलती है।
उसे कठवत में झाड़ती है
लेकिन कठवत का पेट भरता ही नहीं
पतरमुही ( पैंथन तक नहीं छोड़ती )
सरर फरर बोलती है और बोलती रहती है

बच्चे आँगन में—
आँगड़ बाँगड़ खेलते हैं
घोड़ा-हाथी खेलते हैं
चोर-साव खेलते हैं
राजा-रानी खेलते हैं और खेलते रहते हैं

चौके में खोई हुयी औरत के हाथ
कुछ भी नहीं देखते
वे केवल रोटी बेलते हैं और बेलते रहते हैं

एक छोटा सा जोड़-भाग
गश खाती हुयी आग के साथ-साथ
चलता है और चलता रहता

बड़कू को एक
छोटकू को आधा
परबत्ती—बालकिशुन आवे में आधा
कुल रोटी छै
और तभी मुँह दुब्बर
दरवे में आता है—'खाना तैयार है ?'
उसके आगे थाली आती है
कुल रोटी तीन
खाने से पहले मुँह दुब्बर
पेटभर
पानी पीता है और लजाता है
कुल रोटी तीन
पहले उसे थाली खाती है
फिर वह रोटी खाता है

और अब—
पौने दस बजे हैं—
कमरे की हर चीज़

एक रटी हुई रोजमर्रा धुन
दुहराने लगती है
वक्त घड़ी से निकलकर
अंगुली पर आ जाता है और जूता
पैरों में, एक दँत टूटी कंघी
बालों में गाने लगती है

दो आखें दरवाजा खोलती हैं
दो बच्चे टाटा कहते हैं
एक फटेहाल कलफ कालर—
टाँगों में अकड़ भरता है
और खटर पटर एक ढढ्ढा साइकिल
लगभग भागते हुए चेहरे के साथ
दफ्तर जाने लगती है
सहमा चौरस्ते पर जली लाल बत्ती जब
एक दर्द हौले से हिरदै को हूल गया
'ऐसो क्या हड़बड़ी कि जल्दी में पत्नी को
चूमना—
देखो, फिर भूल गया।'

## प्रजातंत्र के विरुद्ध

पेट में धँसे छुरे के साथ भागती है अलारक्खी
सस्ते गल्ले की दुकान की बाहरी
दीवार से टकराती है। उसकी खून भरी मुट्ठी में भिचा हुआ
राशन कार्ड, हरित क्रांति के विरुद्ध,
उसकी टाँगों में आफत है

मौत के सिरे पर एक जिंदगी
शुरू हो रही है। ए भाई रमजान ! ए राम नाथ !!
पेट से छुरा निकालने के पहले
उसकी टाँगों में फटती हुयी आफत को
निकालो।

और उस आततायी की तलाश करो, हाय हाय
इस बच्चे के पिता इस औरत के पति की तलाश करो
यहीं कहीं
हाँ-हाँ यहीं कहीं होगा
किसी बद्दू मुहावरे की आड़ में
खुदकुशी की रस्सी लटकाता हुआ,
पेट से लड़ते लड़ते जिसका हाथ:अपने प्रजातंत्र पर उठ गया है।

## कविता—श्री काकुलम्

(द गन इज़
नाट इन द
हैंड्स आफ द
पीपुल—जे० पी०)

एक आदमी—
दूसरे आदमी की गरदन
धड़ से
अलग कर देता है

जैसे एक मिस्त्री बल्टू से
नट अलग करता है

तुम कहते हो—यह हत्या हो रही है
मैं कहता हूँ—मेकेनिजम टूट रहा है

नहीं……इस तरह चेहरा
मत सिकोड़ो और न कन्धे ही
उचकाओ
मुझे मालूम है—सबूत के लिए
तुम कह सकते हो कि खून

बह रहा है।
लेकिन इतना ही काफी नहीं है
और खून का रंग लाल है

असली सवाल है यह जानना
कि बहता हुआ खून क्या कह रहा है

यह हत्या कांड नहीं है सिर्फ लोहे को
एक नया नाम दिया जा रहा है

और सबूत के लिए यदि तुम
देखना ही चाहते हो
तो चलो मेरे साथ
मैं तुम्हें दिखलाता हूँ भाषा के जंगल में
कविता का वह वर्जित-प्रदेश
जहाँ कायरता—
एक खाली तमंचा फेंक कर
भाग गई है और साहस
चंद पके हुये बालों के साथ
आगे बढ़ गया है—
अंधेरे में।

## आतिश के अनार सी वह लड़की

( कुमारी रोशन आरा बेगम के लिए—जिसने खुद को आततायी टैंक के नीचे बम के साथ डाल लिया ) ।

'आजाद रहना हर वक्त एक नया अनुभव है' वह प्यारी लड़की !
अपने देशवासियों के खून में हमलावर दांतों की रपट पढ़ना
और उसके हिज्जे के खिलाफ कदम ब कदम
मौत के फैसले की ओर बढ़ना
छाती पर बाँधकर बम
कम से कम, कहें जिन्हें कहना है यह अद्भुत साहस था बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक के तीसरे महीने में

लेकिन मैं सिर्फ यह कहना चाहूँगा—वह एक भोली जरूरत थी
औसतन गलत जिन्दगी और सही मौत के चुनने का सवाल था
इसे अगर कविता की भाषा में कहूँ—'यह जंगल के खिलाफ
जनतंत्र का मलाल था'

बाबुल के देश का चुटिहल धड़कता हुआ टुकड़ा था सीने में
और फैसले का वक्त था ।

एक हाथ जो नाजुक जरूर था लेकिन वेहद सख्त था—
आजाद अनुभवों की लकीर को पूरब की ओर आगे तक खींच रहा था
और लोग चकित थे देखकर कि एक नन्हा गुलाब
किस तरह लोहे के पहाड़ को अपनी मुट्ठी में भीच रहा था

ठीक इसी तरह होता है
जवानी जब भी फैसले लेती है
गुस्सा जब भी सही जनून से उभड़ता है
हम साहस के एक नये तेवर से परिचित होते हैं
तब हमें आग के लिए
दूसरा नाम ढूढ़ना नहीं पड़ता है।

मुमकिन था यह भी कि अपनें देशवासियों को गरीवी से
साढ़े तीन हाथ अलग हटकर
एक लड़की अपने प्रेमी का सिर छाती पर रखकर
सो रहती देह के अंधेरे में
अपनी समझ और अपने सपनों के बीच

मैं उसे कुछ भी न कहता सिर्फ कविता का दरवाजा
उसके लिये बन्द रहता लेकिन क्या समय भी उसे
यूँ ही छोड़ देता ?

वह उसके चुम्बन के साथ बारूद से जले हुए गोस्त का
एक सड़ा हुआ टुकड़ा जोड़ देता
और हवा टाँग देता उसके लिए
एक असंसदीय शब्द—नीच !
मुमकिन यह भी था कि थोड़ी सी मेंहदी और
एक अदद ओढ़नी का लोभ
लाल तिकोने के खिलाफ बोलता जिहाद
और अपने 'वैनिटी बैग' में छोड़कर बच्चों की एक लम्बी फिहरिश्त
एक दिन चुपचाप कब्र में सो जाती हौवा की इंकलावी औलाद
लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

ओ प्यारी भाभियों !
ओ नटखट बहिनों !
सिंगार-दान को छुट्टी देदो
आइने से कहो वह कुछ देर अपना अकेलापन घूरता रहे
कन्घी को झड़े हुए बालों की याद में गुनगुनाने दो
रिबन को फेंक दो 'बाडिस' की अलगनी पर
यह चोटी करने का वक्त नहीं और न बाजार का ?
बालों को ऐंठकर जूड़ा बाँध लो
और सब के सब मेरे पास आ जाओ,
देखो, मैं एक नई और ताजा खबर के साथ
घर की दहलीज़ पर खड़ा हूँ

ओह ! जैसा मैंने पहले कहा है—
बीस सेवों की मिठास से भरा हुआ यौवन
जब फटता है तो न सिर्फ टँक टूटते हैं
बल्कि खून के छींटे जहाँ-जहाँ पड़ते हैं
बंजर और परती पर आजादी के कल्ले फूटते हैं
और ओ प्यारी लड़की !
कल तू जहाँ आतिश के अनार की तरह फूटकर
बिखर गई है ठीक वहीं से हम
आजादी की वर्षगाँठ का जश्न शुरू करते हैं।

## मुक्ति के तुरन्त बाद

हवा हताश सर्पिणी की तरह फण पटक रही थी
और काँपता हुआ अधकार सुनाई पड़ता था मौत की दाढ़ों में
जैसे फँसा हुआ रुदन।

यातना के अपने स्वाद होते हैं साथियों।
चमड़े पर बजती हुई सनसनी में
जंजीरों का सपना अपना मोर्चा छोड़ गया था

और मैं यहाँ था अंधे कुए से बाहर : मुक्त और निसंग
मौत और हथेली के बीच फर्क तय करता हुआ।

और तब। पहली बार दूर से आता हुआ आदमी। एक पूरा देश
लग रह था

क्या मैंने पेड़ की आत्मीयता की बात की
क्या मैंने कहा कि धूप माँ की गोद सी-गर्म थी
क्या मैंने कहा कि थरथराती हुई जुबान
डबडबायी आँख में बदल गई थी

नहीं मैंने ऐसा कुछ नहीं किया
घाव की अपनी खामोशी होती है साथियों।

मगर मैंने सहसा महसूस किया कि
लहू का एक कतरा
गेहूँ के दाने में गुनगुना उठा है
और इतिहास के मोड़ पर
एक जिंदा परछाईं गहरा गई है।

## एक कविता : कुछ सूचनाएँ

सबसे अधिक हत्याएँ
समन्वय वादियों ने कीं।
दार्शनिकों ने
सबसे अधिक जेवर खरीदा।
भीड़ ने कल बहुत पीटा—
उस आदमी को
जिसका मुख-ईसा से मिलता था।

वह कोई और ही महीना था।
जब प्रत्येक टहनी पर फूल खिलता था;
किन्तु इस बार तो—
मौसम बिना बरसे ही चला गया
न कहीं घटा घिरी
न बूंद गिरी
फिर भी, लोगों में टी० बी० के कीटाणु
कई प्रतिशत बढ़ गये

कई बौखलाए हुए मेढक
कूएँ की काई लगी दीवाल पर
चढ़ गए,
और सूरज को धिक्कारने लगे

—व्यर्थ ही प्रकाश की बड़ाई में बकता है,
सूरज कितना मजबूर है
कि हर चीज पर एक-सा चमकता है।

हवा बुदबुदाती है
बात कई पर्तों से आती है—
एक बहुत बारीक पीला कीड़ा
आकाश छू रहा था,
और युवक मीठे जुलाब की गोलियाँ खाकर
शौचालयों के सामने
पंक्तिबद्ध खड़े हैं।

आखों में ज्योति के बच्चे मर गए हैं
लोग खोई हुयी आवाज़ों मे
एक दूसरे की सेहत पूछते हैं
और बेहद डर गये हैं।

सब के सब—
रोशनी की आँच से
कुछ ऐसे बचते हैं
कि सूरज को पानी से—
रचते हैं।

बुद्ध की आँख से खून चू रहा था।
नगर के मुख्य चौरस्ते पर
शोक प्रस्ताव पारित हुए,
हिजड़ों ने भाषण दिए
लिंग-बोध पर,
वेश्याओं ने कविताएँ पढ़ीं—
आत्म-शोध पर

प्रेम में असफल छात्राएँ
अध्यापिकाएँ बन गयी हैं
और रिटायर्ड बूढ़े
सर्वोदयी
आदमी की सबसे अच्छी नस्ल
युद्धों में नष्ट हो गयी,
देश का सबसे अच्छा स्वास्थ्य
विद्यालयों में
संक्रामक रोगों से ग्रस्त है

(मैंने राष्ट्र के कर्णधारों को
सड़कों पर
किश्तियों की खोज में—
भटकते हुए देखा है)

संघर्ष की मुद्रा में घायल पुरुषार्थ
भीतर ही भीतर
एक निःशब्द विस्फोट से त्रस्त है

पिकनिक से लौटी हुयी लड़कियाँ
प्रेम-गीतों के गरारे करती हैं
सबसे अच्छे मस्तिष्क,
आराम कुर्सी पर
चित्त पड़े हैं।

## सुदूर पूर्व में

सुदूर पूर्व में
जहाँ चमकते सितारों को
बम वर्षकों ने अपनी आड़ में ले लिया है,

धरती पर, एक हरी पत्ती
ओस-कणों के लिए
अब भी रात बीतने का इंतजार
कर रही है,

और हवा
किसी पूजा-गृह से सुगंधित प्रार्थना-स्वरों को
आत्मा के प्रवेश-द्वार तक छोड़ आने के लिए
तत्पर है
समुद्र के पश्चिमी सिरे पर, सूर्यास्त—
जब किसी प्रज्वलित घंटा-ध्वनि-सा
गूंज उठता है
तुम अपना स्नेह भरा कोमल हाथ
मेरे कन्धे पर रख देते हो

और मैं समझने लगता हूँ कि दुनियाँ
ज्वालामुखियों के दहाने पर भी
इतनी ठंडी क्यों है।

## रोटी और संसद

एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ़ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ—
'यह तीसरा आदमी कौन है ?'
मेरे देश की संसद मौन है।

## लेनिन का सिर

मैं वह सिर देखता हूँ,
भाई गजब :
लोहा भी सोचता है।
फिर देखते ही देखते
वह सिर बदल जाता है
निग्रो औरत के
पुष्ट दूध भरे विशाल स्तन में,
पीप्-पीप् करते-करते बम में
जिसे छापामार दस्ते ने दुश्मन की ओर
फेंका है।

—सैकड़ों नीली-नीली नसें कौंधती हैं ताजा और
तेज खून लेकर भागती हुई जहाँ....
आदमी के लिए सैकड़ों जिंदा विचार
भाष्य बनने के लिए व्याकुल हैं।

जब पेड़ किसी खोटे सिक्के-सा
उछल कर घाटी की गुमसुम हथेली पर
बेखनक गिरता है—एक तना
दूसरे तनें को चाकू फेंकना सिखाता है

## शब्द जहाँ सक्रिय हैं

'कविता हत्या नहीं करती'—
आखिरी झंडी रंगते हुए बड़े भाई ने कहा—
'खून की रपट के कानूनी
मसलों पर
लाश के पास पाए गए हथियारों की
पड़ताल करती है
ताकि न्याय कायम हो।'
'कविता—
मझले भाई ने रस्सी बटते हुए
कहा—जब ज्यादातर लोग सहमत होने
लगते हैं सुविधा के किसी खास
नुक्ते पर वाजिब शंकाओं के साथ
हक जैसे एक मामूली शब्द को
मोर्चे पर बहाल करती है
सत्य की सुरक्षा हो इसलिए।'

मगर छोटे भाई ने कोई उत्तर नहीं दिया
अपनी अंगुलियों पर पिता के नाखून
देखता हुआ वह सहसा उठा
और अपने हिस्से की रोटी के साथ
जंगल को चला गया

कुनबा अवाक्—
झटके से झूल गयी भाषा की लोथ
पटरा सीवान में
सन्नाटा फाँसी के तख्ते-सा खड़ा था
और हवा—
हत्या की तरह काँप रही थी

कहीं कोई उत्तर नहीं
पीढ़ियों की बहस का सिलसिला
बीच ही से टूट चुका था और कविता
आखिरी आदमी की अंगुली पकड़कर
भूमिगत हो गयी थी

तब से कितने आरोप दुहराए गए हैं
गुजरे दशक की खबरायी सुर्खियाँ
अफवाहों से पीली हो चुकी हैं
मगर लड़ाई में शरीक
मेरी अंगुलियों का खून है कि सूखता ही नहीं,
और अब तो तिहत्तर है आठवें दशक ने
अभी-अभी दूसरी खूंटी तोड़ी है
और धीरे-धीरे मनुसा रहा है।
इस वक्त अलग से
मुझे कुछ भी नहीं कहना है
मैं सिर्फ इतना भर जानता हूँ—
कि नदी के मुहाने पर
हलचल है और जंगल

अपना रास्ता बदल रहा है
रात के अंधेरे में
दरारों से निकलते हैं सधे हुए
चट्टानी पैर और पानी की सतह से
बिजली के शब्द फूल तोड़ लाते हैं
जिसके सहारे
आकाश गंगा के किनारे जगमग
सितारों के पास
एक झाड़ी—
जुगनुओं के इशारे भेजती है
बत्ती के मद्धिम प्रकाश में

जब पेड़ किसी खोटे सिक्के-सा
उछलकर घाटी की गुमशुम हथेली पर
बेखनक गिरता है एक तना
दूसरे तने को चाकू फेंकना सिखाता है

और ठीक उसी वक्त कबिता
शब्दों पर शान चढ़ाने का काम
शुरू करती है जब आदमी के
दर्दीले गले से कोई अगिन-गीत
फूटता है
और यह सब जिसके इशारे पर होता है
उस अधेड़ दाढ़ी का चेहरा
हू बहू तीसरे भाई से मिलता है

मैं सिर्फ इतना भर जानता हूँ कि शब्द
जहाँ सक्रिय हैं, भूख का सिलसिला
भाई चारे की जमीन-पर
छापामार सीटियाँ बजानें लगा है
और तब ही से भाइयो ! मेरे पुर बासियों ! !
मेरे पड़ोस की चुनमुन चिरैया
अपना घोंसला लोहे की जालियों से
बुनने लगी है और मेरी छप्पर का
एक नन्हा तिनका
जंगल की शाख होने का सपना
देखनें लगा है ।

## अन्तर

कोई पहाड़
संगीन की नोंक से बड़ा नहीं है
और कोई आँख
छोटी नहीं है समुद्र से
यह केवल हमारी प्रतीक्षाओं का अन्तर है—
जो कभी
हमें लोहे या लहरों से जोड़ता है।

## बारिस में भींग कर

सहसा हम क्यों चाहने लगते हैं, हमारे सिरों पर
छत हो।
(जनतांत्रिक)—वर्षा में घुली हुई
क्या यह खुली सड़क काफ़ी नहीं है,
(सचाई और शोहरत के बीच बिछी हुई संसद तक)
फिर हम एक छत क्यों चाहते हैं जब कि यह
सही कवियों और तुक्कड़ों की
पहचान का समय है ?

तुमने अपना सिर बरखा को दे दिया है वेलौस
धन्यवाद जन-कवि और तुमने उसे
टपकती हुई टप्पर के नीचे छुपा लिया है
बातूनी नागरिक ? तुम्हें भाषा से अधिक
अपने भींगने का भय है

यह तुम्हारा मुहावरा है
बारिश में भींग कर चमड़े को खतरा है
—इस वक्त मुनादिया अपनी डुग्गी बजा रहा है
—सईस अपने घोड़े की जीन
—नाई उस्तरा रपटने का पट्टा छिपा रहा हैं
—और राजनयिक

जाती गुट बन्दी की सतही 'छे-तीन'
और यह भी सही है कि बारिश में भींगकर
चमड़े की हर चीज अपनी औकात से
औसतन, कुछ ज्यादा हो जाती है
क्योंकि चमड़े पर बजने वाली सुविधा
जल थुलथुल मसक—मसलन मादा हो जाती है

वाकई चमड़े को खतरा है। तुक्कड़ जी !
राम राम जाइये !
और राम झरोखे बैठकर शाम का तुक
लगाम से मिलाइये।

लेकिन कविता चमड़ा नहीं है
इसीलिये कविता में गाती है घास
आदमी की जुबान से तिनका भर आगे बढ़कर
सदियों से अपने रौंदे जाने का इतिहास
'सहना ही जीवन है जीवन का जीवन से द्वन्द है
मेरी हरियाली में मिट्टी की करुणा का छन्द है'
और यही कारण है कि दल बदल करते उतावले
बादलों को चाबुक से पीटकर
जीवन रस गारती है। दौड़-दौड़ सारे आकाश में
बिजली—
सदियों से रौंदी हुई घास को पुकारती है
इसीलिये कविता में मामूली ( पनरोपना )
डिब्बा गुर्राता है झुग्गी के छेद से

'टपकता है तो टपक
लेकिन बिजुरी की अंगुरी पकड़
कथरी पर सोये हुए मुन्ने पर मत लपक ।'
और कवि इन्हीं छोटे-छोटे ब्योरों को गाता है
उसकी यही साख है
उसके लिये कविता सिर्फ शब्दों की बिसात नहीं
वाणी की आँख है
बारिश में भींगकर आह्लादित कवि
नंगे सिर घूमता है कीच भरे रस्तों पर

अनुभव के नये-नये पृष्ठों पर
भाषा के समर्थन में बूँदें गिरतीं हैं
जैसे सामूहिक हस्ताक्षर अभियान में
आसमानी दस्तखत ।
और कविता—कविता से भींगती है
तृप्त और कृतज्ञ जैसे पानी—
पानी से भींगता है समरस और शान्त ।

## दूसरे का घर

कौन-सी आत्मीयता
ठहराव का कौन-सा बहाना ढूढ़ते हुये
तुम यहाँ आते हो रोज ?

वही खुफिया आँखें
वही आत्मायें बूढ़ी खूँखार
यहाँ भी तुम्हें घूरती हैं जो न जाने कब से
सड़क पर तुम्हारा पीछा कर रही थीं

तुम्हारी जेब में क्या है ? प्यार ?
उसे बाहर गली में फेंक दो।
यह दूसरे का घर है—
और शहर की जुबान में
तुम्हारी भाषा और उम्मीद के बीच
वे काठ का एक टुकड़ा रख देंगे
या फिर एक प्याली गर्म चाय—
'पियो जी कबीजी माराज !'

सोचते क्या हो ? अपनी शर्म में डूब
मरने का कोई दूसरा उपाय ?

ढूढ़ लो,
हो चुके हो, तुम बाजार से बाहर
तुम्हारे नाख़ून बहुत छोटे हैं और होने के बाद भी
तुम पशु बनने को तैयार नहीं हो।
तुम्हारे चेहरे से आज भी आदमीयत की गंध
आती है।

क्या कहा—दया ? लेकिन याद क्यों नहीं करते—
दया का एक रुख हाय ! यह भी है कि जो जाति
ठंढ के माकूल दिनों में आदमी का खून
खींच लेती है, गर्मी के 'मौसम' में
पौसरा चलाती है।

और यह दूसरे का घर है,
और
तुम्हारा दोष यह है कि तुम सब कुछ समझते हो—
दाँत और सिक्के में कौन-सा रिश्ता है ?
दीवारों की मातृ-भाषा क्या है ?

# कल

देह के बसन्त में वापस लौटते हुये, कल तुम पाओगे
अपनी नफरत के लिये कोई कविता जरूरी नहीं है
अपनी जालों के साथ लौट जायेंगे
वे जो शरीरों की बिक्री में माहिर हैं।

कल तुम जमीन पर पड़ी होगी और बसंत पेड़ पर होगा
नीमतल्ला, वेलियाघाट, जोड़ा बगान
फूलों की मृत्यु से उदास फूलदान
और उगलदान में कोई फर्क नहीं होगा।

## दिनचर्या

सुबह जब अंधकार कहीं नहीं
होगा, हम बुझी हुई बत्तियों को
इकट्ठा करेंगे और
आपस में बाँट लेंगे

दुपहर जब कहीं बर्फ नहीं
होगी और न झड़ती हुई पत्तियाँ
आकाश नीला और स्वच्छ
होगा नगर
क्रेन के पट्टे में झूलता हुआ
हम मोड़ पर मिलेंगे और
एक दूसरे से ईर्ष्या करेंगे

रात जब युद्ध एक गीत-पंक्ति की तरह
प्रिय होगा हम वायलिन को
रोते हुये सुनेंगे
अपने टूटे संबंधों पर सोचेंगे।
दुखी होंगे।

## नगर-कथा

सभी दुखी हैं—
सबकी वीर्य-वाहिनी नलियाँ
सायकिलों से रगड़-रगड़ कर
पिचीं हुई हैं
दौड़ रहे सब—
सम जड़त्व की विषम प्रतिक्रिया :
सबकी आँखें सजल
मुट्ठियाँ भिचीं हुई हैं;

व्यक्तित्वों की पृष्ठ-भूमि में
तुमुल नगर-संघर्ष मचा है
आदिम-पर्यायों का परिचय
विवश आदमी
जहाँ बचा है।

बौने पद-चिह्नों से अंकित
उखड़े हुये मील के पत्थर
मोड़-मोड़ पर दीख रहे हैं,
राहों के उदास ब्रह्मा-मुख
'नेति-नेति' कह
चीख रहे हैं।

## गृहस्थी : चार आयाम

मेरे सामने
तुम सूर्य—नमस्कार की मुद्रा में
खड़ी हो,
और मैं लज्जित-सा तुम्हें
चुप-चाप देख रहा हूँ
(औरत : आँचल है,
जैसा कि लोग कहते हैं—स्नेह है,
किन्तु मुझे लगता है—
इन दोनों से बढ़कर
औरत एक देह है)

मेरी भुजाओं में कसी हुयी
तुम मृत्यु की कामना कर रही हो
और मैं हूँ—
कि इस रात के अंधेरे में
देखना चाहता हूँ—धूप का
एक टुकड़ा तुम्हारे चेहरे पर।

रात की प्रतीक्षा में
हमने सारा दिन गुजार दिया है
और अब जब कि रात
आ चुकी है

हम इस गहरे सन्नाटे में
बीमार बिस्तर के सिरहाने बैठकर
किसी स्वस्थ क्षण की
प्रतीक्षा कर रहे हैं

न मैंने
न तुमने
ये सभी बच्चे
हमारी मुलाकातों ने जने हैं
हम दोनों तो केवल
इन अबोध जन्मों के
माध्यम बने हैं।

## सापेक्ष्य-संवेदन

बम फटने का
दुख तो होता है पर
उतना ज्यादा नहीं, चाय के—
ठंढे होने का दुख जितना।

कहीं देखकर बलात्कार की कोई घटना
उतनी देर तड़पती रहतीं नहीं धमनियाँ
जितनी उस क्षण—
जब दो परिचित-सी आकृतियाँ
नीची आखें किये, परस्पर
बिना कहे कुछ—
पास-पास से गुजर गई हों।

दुख होता है अगर किसी की
मिली नौकरी छूट गई हो
लेकिन उतना नहीं
कि जितना—
बार-बार सुननें पर भी फटकार
आदमी, लौट काम पर
फिर आया हो—
कालर फटी कमीज पहनकर

वह दुख सभी सहन कर—
लेते हैं जो अर्थी के उठने पर
उग आता है,
लेकिन यह असह्य संवेदन
मन को तोड़-तोड़ जाता है—
यात्राओं की अन्तिम गाड़ी
एक छोर पर रुकी हुई हो
पंगुल बच्चों की कतार जब
सड़क पार करनें की आतुर मुद्राओं में
बैसाखी पर झुकी हुई हो।

## युवा सदी गाती है

लड़कों के चेहरों से टूट-टूट गिरती हैं
बुलबुलों की चीखें
लड़कियाँ—चखनों में
गुलेल बाँधकर
चलती हैं,

सुनहरी किताब की जिल्द के ऊपर
पिता का डर है
और अन्दर
प्यारे का खत है

सुना ! तुमने सुना !!
युवा सदी गाती है
इसी तरह, अक्षर-अक्षर
लुकछिप कर जाना आदत है
प्रेम की।
युवा सदी गाती है।

मैं हूँ अथाह रुदन, अंधकार के आर-पार
जिसे एक टूटे हुये हृदय ने
खुद को जोड़ने के लिये गा दिया है

## उसके बारे में

पता नहीं कितनी रिक्तता थी—
जो भी मुझमें होकर गुजरा—रीत गया
पता नहीं कितना अंधकार था मुझमें
मैं सारी उम्र चमकने की कोशिश में
बीत गया।

भलमनसाहत
और मानसून के बीच खड़ा मैं
आक्सीजन का कर्जदार हूँ
मैं अपनी व्यवस्थाओं में
बीमार हूँ।

## खेवली

वहाँ न जंगल है न जनतंत्र
भाषा और गूँगेपन के बीच कोई
दूरी नहीं है।
एक ठंढी और गाँठदार अंगुली माथा टटोलती है।
सोच में डूबे हुये चेहरों और
वहाँ दरकी हुयी जमीन में
कोई फर्क नहीं है।

वहाँ कोई सपना नहीं है। न भेड़िये का डर।
बच्चों को सुलाकर औरतें खेत पर चली गयी हैं।
खाये जाने लायक कुछ भी शेष नहीं है।
वहाँ सब कुछ सदाचार की तरह सपाट
और ईमानदारी की तरह असफल है।

हाय ! इसके बाद
करम जले भाइयों के लिये जीने का कौन सा उपाय
शेष रह जाता है, यदि भूख पहले प्रदर्शन हो और बाद में
दर्शन बन जाय।
और अब तो ऐसा वक्त आ गया है कि सच को भी सबूत के बिना
बचा पाना मुश्किल है।

## खून के बारे में कविता

सबसे पहले
मैंने उसे महसूस किया था माँ के शरीर में
वह रंग नहीं था उस वक्त।
स्वाद का पहला तजुर्बा था जुबान पर
एक गीली और कोमल गर्माहट थी।
जो झिल्ली पर रोशनी की तरह
बजती थी। वह
पहला रोना था पृथ्वी पर।

दूसरी बार मैंने उसे बच्चे के
गालों पर देखा था। वह
डगमगाते हुये हर दूसरे क़दम के लिये
कहता था "शाब्बाश"
और इतना खुश था कि उत्साह में
दूध बन गया था दूसरी तरफ
नीली नस-नाड़ियों के जाल में।

मैंने उसे एक युवा छात्र की नाक पर
देखा था तीसरी बार। जब
किताबों की आधी दुनियाँ
काली हो रही थी और फरिश्ते

भाषा के सामूहिक बलात्कार में मशगूल थे
वह दाँत की जड़ों में अध-जन्मे
कीड़े की तरह कुलबुला रहा था और
दीवारों की चौकसी के बावजूद
एक नारा बन गया था। भाषा की रात में।

चौथी बार मैंने उसे एक लड़की के
चमड़े में गाते हुये सुना था। वह
बेहद आलसी हो गया था पर
बेहद उत्तेजक। शब्दों को गुम करते हुये
उसने सारे रिश्ते पैताने खिसका दिये थे
और बेबाक चालाकी से
खुद को
एक परिचित मादा खुशबू में बदल
लिया था।

कंगले की पसलियों के चोर दरवाजे पर
मैंने उसे देखा था पाँचवीं बार
समूचे जीवन से विदा लेते हुये
उसकी पीठ पर
एक पीली गठरी थी। जाते-जाते
उसने स्वास्थ्य-कामना की थी और
होठों से हँसी की तरह गायब हो गया था

आखिरी और आखिरी बार। स्टैंड से
उल्टी बोतल में

रबर की एक लम्बी नली से वह
सरक रहा था। धीरे-धीरे
मृत्यु के खिलाफ़। छापामार
दस्ते के अगुआ की तरह
देह के जंगल में
जहाँ मौत ने अपना खेमा
गाड़ रखा था।

उसने मुझसे बुदबुदाकर कहा—
"कवि हो! इस फौरी धावे में साथ दो।
और सुनो! कविता मारती नहीं,
जानें बचाने की कोशिश में
पहल करती है।"

## मैं हूँ

मुझे लिखो, मैं कटी हुयी अंगुलियाँ हूँ
जिसे भूख ने खा लिया है।
मैं हूँ अथाह रुदन, अंधकार के आर-पार
जिसे एक टूटे हुये हृदय ने
खुद को जोड़ने के लिये गा दिया है।

और तुम कहते हो कवि एक सुन्दर बगीचा है
जिससे अपने लिये तुम एक शब्द-फूल
तोड़ सकते हो। तोड़ो,
मगर मत भूलो कि इस बगीचे को
एक आदमी ने अपने खून से सींचा है

एक बगीचा है जिसकी चार दीवारों के पीछे
कुछ भूखे बच्चे आँख मिचौनी खेल रहे हैं।
मत भूलो
कि कवि एक कुनबे का अगुआ है
जिसके सदस्य—
आजादी को आक्रमण की तरह झेल रहे हैं।

कवि एक मजबूत बंकर है
जहाँ खाली वक्त में
तुम अपने जूते उतार सकते हो

बंदूक टेक सकते हो
मगर मत भूलो कि कवि एक खौलता हुआ
आँसू है। रक्त-सिक्त उत्तप्त
जिससे तुम अपनी ठिठुरी हुयी करुणा
सेंक सकते हो।

कवि एक लय है
थकान में गिरी हुयी
क्या तुमनें सुना ?
और तुम्हें खुशी है
मगर मत भूलो
कि कवि
व्यावहारिकता की
बटी हुयी रस्सी से झूलती हुयी
संवेदना की खुदकुशी है।

## मेरी कविता

यह है
मेरी कविता : मेरा घर
महरी ! इसे झाड़ू से
मत बुहार
आँचल से साफ कर
क्या कहा—
भाषा—? देख उधर कोने में—
शब्दों के अर्थ भरे
कोने में रक्खी है
अरे भई ! वहाँ नहीं, वहाँ
आले पर
उस गिलास के पास
जिसमें मेरे दाँत रखे हैं
आ ऽऽ हाँ ऽऽ
गौर से
उठा और शब्द-शब्द
पोंछ
खूँटी पर टंगे हुये कुर्त्ते को मत निहार,
बेमतलब मत सोच,
चल !
अपना काम कर।
फटी हुयी बाँह से
देश की गरीबी का
क्या मतलब।

## आलोचक

वह तुम्हारी कविता का
एक शब्द सूँघता है
और
नाक की सीध में
तिजोरियों की ओर दौड़ता चला
जाता है।

और लो, उस गुर्राहट ने
सारे चेहरे खरोंच दिये,
एक टाँग उठाया
और मूत दिया

यह कुकुरमुत्ता है
गाँव में
बच्चे इसे छाता कहते हैं।

## कविता के द्वारा हस्तक्षेप

जब मैं अपने ही जैसे किसी आदमी से बात करता हूँ,
साक्षर है पर समझदार नहीं है। समझ है लेकिन
साहस नहीं है। वह अपने खिलाफ चलने वाली
साजिस का विरोध खुलकर नहीं कर पाता।
और इस कमजोरी को मैं जानता हूँ। लेकिन इसीलिये
वह आम मामूली आदमी मेरा साधन नहीं है
यह मेरे अनुभव का सहभागी है, बनता है।

जब मैं उसे भूख और नफरत और प्यार और जिंदगी
का मतलब बतलाता हूँ—और मुझे कविता में
आसानी होती है—जब मैं ठहरे हुये को हरकत
में लाता हूँ—एक उदासी टूटती है, ठंढापन खत्म
होता है और वह जिंदगी के ताप से भर जाता है।

मेरे शब्द उसे जिंदगी के कई-स्तरों पर खुद को
पुनरीक्षण का अवसर देते हैं, वह बीते हुये वर्षों
को एक-एक कर खोलता है।
वर्तमान को और पारदर्शी पाता है उसके आर-पार
देखता है। और इस तरह अकेला आदमी भी
अनेक कालों और अनेक सम्बन्धों में एक समूह
में बदल जाता है। मेरी कविता इस तरह अकेले को
सामूहिकता देती है और समूह को साहसिकता।

इस तरह कविता में शब्दों के जरियें एक कवि
अपने वर्ग के आदमो को समूह की साहसिकता से
भरता है जब कि शस्त्र अपनें वर्ग-शत्रु को
समूह से विच्छिन्न करता है। यह ध्यान
रहे कि शब्द और शस्त्र के व्यवहार का व्याकरण
अलग-अलग है। शब्द अपनें वर्ग-मित्रों में कारगर
होते हैं और शस्त्र अपने वर्ग-शत्रु पर।

## आज मैं लड़ रहा हूँ

फूलों की हँसी के खिलाफ
जंजीरें खनखना रही हैं
और रिश्ते—
मुहावरा बदलने की फिराक में हैं

आज अंधेरा है और खून
लगा हुआ है हाथों में
जिसे हमनें हासिल किया है
वह पालने में नहीं—रक्त लथपथ
कराहों की बगल में पड़ा है।

बच्चे भूखे हैं :
माँ के चेहरे पत्थर,
पिता जैसे काठ : अपनी ही आग में
जले है ज्यों सारा घर,

पेशेवर गुलाबों की हँसी ने
खारिज कर दिया है बसंत
और कविता की नसों में
बहता हुआ खून
जरूरत की जगह
जहमत बन गया है

अक्सर उठते हैं सवाल
कहाँ हैं युवा-जन ?
परिवर्तन के अग्नि-चक्र ?
क्षुधित इतिहास ?

पीले पत्ते—
पतझड़ की ओर उड़ते गये हैं ?
चुटकुलों-सी घूमती लड़कियों के स्तन
नक़ली हैं ? नकली हैं युवकों के दाँत ?

वे जबड़े जाम क्यों हैं
जिन्होंनें खून की रपट पढ़ी है ?
मैं सुनता हूँ। उत्तर धीरे से
मुझमें उभरता हैं, जैसे काल कोठरी की
दीवार पर उभरते हैं, शब्द :
कल सुनना मुझे—
जब दूध के पौधे झर रहे हों सफेद फूल
निःशब्द पीते हुयें बच्चे की जुबान पर
और रोटी खायी जा रही हो चौके में
गोस्त के साथ। जब
खटकर (कमाकर) खानें की खुशी
परिवार और भाई चारे में
बदल रही हो—कल सुनना मुझे।
आज मैं लड़ रहा हूँ।

## पराजय-बोध

मैं अपनी टांगों में झूल रहा हूँ
मैं अपनी उबकाइयों पर फूल रहा हूँ
एक शब्द जो मुझे ऐन इस मौके पर याद आना चाहिये था
( बम—नहीं—बम—नहीं तम—नहीं )
भूल रहा हूँ।
मेरे हाथ काले हैं
मेरी आँखों में जाले हैं
मेरी जुबान चुप है
होठों पर ताले हैं।
टखनों में जाड़ा है
मेरा जीवन लार टपकाती हुयी नेंकर का नाड़ा है।
मुझे मेरे दर्द ने पिछाड़ा है।

## मृत्यु-चिन्ता

कोई जिया नहीं
पकी हुयी फसलों की मृत्यु

सारे इतिहास रहे खेत,
अंगुली के पोरों के नीचे तड़पा किये
ऐंठती अंतड़ियों से—
भरे हुये पेट :

एक भी हथेली नहीं ऐसी है—
क्रास भरे चेहरों नें
जिस पर उड़ेला नहीं
सागर की बूंद-बूंद देह
वज्रपात ! हिमपात !!

ब्रेक लगी गाड़ी के
झटके-सा वीर्य-पात
रोगिणी दिशाओं में अविरल प्रमेह,
गर्भपात ! गर्भपात !!

बच्चों की आँखों में
छाया अभिशाप की
बूढ़ों के चेहरों पर
परछाइं पाप की।

### प्रवेश-पत्र

अपनी हड्डियों से दुनियाँ थहानें
का वक्त नहीं है, लड़खड़ाते
पैरों से राह नापनें का वक्त
यह नहीं है, चोरों को सुविधा
मिली है और तुम्हें
हकारता हुआ देखता हूँ
यह देश बहुत बड़ा है
तुम अपनी भूख से इसे
भर नहीं सकते ।

आओ अचरज वहाँ पड़ा है, उसमें
जहाँ बनिये की आँख बनैले जानवर—
सी जल रही है ।

आओ ! मेरी आत्मा अंधी है
मेरा दुख पीठ पर बँधा है
वसंत सिर्फ पेड़ों की आदत का
हिस्सा है,
जहाँ छायाओं में झुलसे हुये
चेहरे लेटे हुये हैं ।

## गाँव में कीर्त्तन

रात में—
बजती हैं डफलियाँ।
कीर्त्तन की झाड़ियों के पीछे
अपराध स्वीकार के सामूहिक उत्साह में
भाषा
शब्दहीन
ताँत के नीचे पड़ी हुयी रूई की तरह
टूटती है।
उमंग के तीसरे तहखानें में
एक चेहरा नंगा हो जाता है।
और तभी आते हैं काले घुड़सवार,
और डफों में
सूराख कर देते हैं।
कोई विरोध नहीं करता।

आसमान से एक तारा टूटता है और सुबह की
शुरुआत में गिर पड़ता है
आकाश-गंगा की सरहदों पर बजने वाली
जल तरंग
( जिसे गाँव वाले रात की आंत कहते हैं )
पत्तों पर और घासों की नोंक पर

किसी बच्चे की तुतली आवाज-सी
झिलमिलाती है
रंगों की मुहर तोड़कर, सूरज
फसलों की एक पूरी दुनियाँ सामने रख देता है
मगर कोई ध्यान नहीं देता।
लोग या तो दातौन की तलाश
करते हैं या मरे हुए चूनें के पानी में
चमड़ा भिगोते हैं
या खून के भीतर ताश के पत्ते फेंकते हुये
दीवार की बगल में चारपाई खींचकर
दिन चढ़े तक सोते हैं

एक बे आवाज परछाईं
उतरती है और आदमी के
चौड़े चकले चेहरे को पार करती हुयी
सीवान में गुम हो जाती है।
धीरे-धीरे
दोपहर होती है
एक औरत आँगन में बैठकर पुतड़ा धोती है
एक रुआँसा लड़का
मदरसे से वापस आता है
चारपाई पर
दायीं करवट लेटा हुआ बाप

बेटे की कमीज पर गिरी हुयी स्याही
देखकर
उसकी पढ़ाई के बारे में निश्चिंत
हो जाता है।

कोई किसी से कुछ नहीं पूछता।

हर आदमी चुपचाप
नींद और कीर्त्तन के बीच का जागरण
तय करता है, यह सोचते हुये कि आदमी

कुछ नहीं करता
जो कुछ करता है समय—
करता है।

मेरे गाँव में हर रोज ऐसा ही होता है।

नफरत की आड़ में
चीजें अपना चेहरा उतार कर रख देती हैं
वक्त के फालतू हिस्सों में
खेतों के भद्दे इशारे गूंजते हैं।
ग्राम-सभा की लालटेन का शीशा टूट चुका है।

नलकूपों की नालियाँ झरना हो गयी हैं
उनमें अब लाठियाँ बहती हैं। और पानी की जगह
आदमी का खून रिसता है।

गाँव की सरहद
पार करके कुछ लोग
बगल में बस्ता दबाकर कचहरी जाते हैं
और न्याय के नाम पर
पूरे परिवार की बरबादी उठा लाते हैं

यद्यपि
उनकी जरूरतों के लिये मैं अपना पूरा कंधा
दे देना चाहता हूँ
मगर टूटते हुये परिवार में
धनुषटंकार झेलते हुये जवान-बछड़े-सा
कराहता हूँ

मेरे गाँव में
वही आलस्य, वही ऊब
वही कलह, वही तटस्थता
हर जगह और हर रोज…
और मैं कुछ नहीं कर सकता
मैं कुछ नहीं कर सकता
मैं सोचता हूँ और तभी
एक खिलखिलाहट मेरी बगल में उभरती है
चालाक गिलहरियों का पीछा करती हुई दुधमुही 'तिनी'
( मेरी बच्ची ) किलक उठी है
मैं चौंक पड़ता हूँ—

'नहीं—इन दिनों बात-बात पर
इस तरह उदास होना
ठीक नहीं है
मैं देखता हूँ—मुझे बरजती हुयी
उसके चेहरे पर एक खुली हुयी हँसी है—
जिसमें एक भी दाँत
शरीक नहीं है।

## ओ बैरागी : पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी

अक्सर तुम्हें देखा है—
अस्सी की सँकरी-सी अस्त-व्यस्त सड़कों पर
घुँघरौही-साँझ की धुमैली परछाईं में—
किरणों की छाती से—
रोशनी निचोड़कर पीता अंधेरा जब ।

अक्सर तुम्हें देखा है—
रीता अंधेरा जब
गंगा की लहरों में, भोर को बुलाते हुये—
मौन-मन्त्र स्रष्टा-से
जीवन युग-द्रष्टा-से ।
अक्सर तुम्हें देखा है—
( सोचा है देख-देख )
अन्तर्मन तुम्हारा एक खड़िये का टुकड़ा है ।
जीवन की अनगिन
अनकही परिभाषाओं को
जिससे आकार मिला—
शब्दों को अर्थ मिला—
भावाभिव्यक्ति मिली
सत्य को दुलार और

सपनों को प्यार मिला ।
किन्तु तुम्हें दुनियाँ ने कोने में फेंक दिया
( अकथनीय दुखड़ा है )

फिर भी बैरागी ओ !
तुम पी रहे गरल,
दे रहे सदा अमिय,
शांति-प्रिय ! शांति-प्रिय !!

## धूमिल की अंतिम कविता

"शब्द किस तरह
कविता बनते हैं
इसे देखो
अक्षरों के बीच गिरे हुये
आदमी को पढ़ो
क्या तुमनें सुना कि यह
लोहे की आवाज है या
मिट्टी में गिरे हुये खून
का रंग।"

लोहे का स्वाद
लोहार से मत पूछो
उस घोड़े से पूछो
जिसके मुँह में लगाम है।

—दिनांक १४-१-७५ को लिखी गई धूमिल की अन्तिम कविता, जब वे भीषण सिर दर्द से पीड़ित थे और दृष्टि एकदम कमजोर हो चुकी थी। छोटे भाई लोकनाथ पाण्डेय से बोले—"जरा कागज-पेंसिल लाओ, देखें-दृष्टि कमजोर हो गई है, चश्मा बगैर लिख पाता हूँ या नहीं"। कागज पेंसिल मँगवा कर ये पंक्तियाँ लिखीं।

इस कविता की अन्तिम चार पंक्तियाँ 'आलोचना' अंक ३३ के सौजन्य से।